❀ श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः ❀

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः

भागवत-पत्रिका

नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक ।
भक्ति अधोक्षज की अहैतुकी विघ्नशून्य अति मंगलदायक ॥

सब धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर ।
किन्तु हरि कथा-प्रीति न हो, श्रम व्यर्थ सभी, केवल बन्धनकर ॥

वर्ष १ | गौराब्द ४७०, मास—मधुसूदन १९, वार—सङ्कर्षण
सोमवार, ३१ वैशाख, सम्वत् २०१३, १४ मई १९५६ | संख्या १२

श्रीश्रीभागवत-गुरु-परम्परा

श्रीकृष्ण--ब्रह्म--देवर्षि--बादरायण संज्ञकान् ।
श्रीमध्व--श्रीपद्मनाभ श्रीमन्नृहरि-माधवान् ॥

अक्षोभ्य-जयतीर्थ--श्रीज्ञानसिन्धु-दयानिधिन् ।
श्रीविद्यानिधि-राजेन्द्र-जयधर्मान् क्रमाद्वयम् ॥

पुरुषोत्तम--ब्रह्मण्य--व्यासतीर्थांश्च संस्तुमः ।
ततो लक्ष्मीपतिं श्रीमन्माधवेन्द्रञ्च भक्तितः ॥

तच्छिष्यान् श्रीश्वराद्वैत-नित्यानन्दान् जगद्गुरून् ।
देवमीश्वरशिष्यं श्रीचैतन्यञ्च भजामहे ॥

श्रीकृष्ण प्रेमदानेन येन निस्तारितं जगत् ।
कलि कलुषसन्तप्तं करुणासिन्धुना स्वयम् ॥

महाप्रभु—स्वरूप—श्रीदामोदरः प्रियङ्करः ।
रूप-सनातनौ द्वौ च गोस्वामीप्रवरौ प्रभू ॥
श्रीजीवो रघुनाथश्च रूपप्रियो महामतिः ।
तत्प्रियः कविराजः श्रीकृष्णदास प्रभुर्मतः ॥
तस्य प्रियोत्तमः श्रीलः सेवापरो नरोत्तमः ।
तदनुगतभक्तः श्रीविश्वनाथः सदुत्तमः ॥
तदासक्तश्च गौड़ीय-वेदान्ताचार्यभूषणः ।
विद्याभूषणपादः श्रीबलदेवः सदाश्रयः ॥
वैष्णव सार्वभौमः श्रीजगन्नाथप्रभुस्तथा ।
श्रीमायापुरधाम्नस्तु निर्देष्टा सज्जनप्रियः ॥
शुद्धभक्ति प्रचारस्य मूलीभूत इहोत्तमः ।
श्रीभक्तिविनोदो देवस्तत्प्रियत्वेन विश्रुतः ॥
तदभिन्नसुहृद्वर्यो महाभागवतोत्तमः ।
श्रीगौरकिशोरः साक्षाद् वैराग्यं विग्रहाश्रितम्॥
मायावादकुसिद्धान्त-ध्वान्तराशि-निरासकः ।
विशुद्धभक्तिसिद्धान्तैः स्वान्तः पद्मविकाशकः॥
देवोऽसौ परमो हंसो मत्तः श्रीगौरकीर्त्तने ।
प्रचाराचारकार्येषु निरन्तरं महोत्सुकः ॥
हरि प्रियजनैर्गम्य ऊँविष्णुपादपूर्वकः ।
श्रीपादो भक्तिसिद्धान्तसरस्वती महोदयः ॥

सर्वे ते गौरवंश्याश्च परमहंसविग्रहाः ।
वयञ्च प्रणता दासास्तदुच्छिष्टग्रहाग्रहाः ॥

पंचोपासना

औपनिषद् ब्रह्म

जिससे यह जड़ जगत् उत्पन्न हुआ है, जिससे जीव जगत् प्रकाशित हुआ है, जिसमें जड़ और जीव जगत् प्रतिष्ठित और प्रतिपालित हैं, जो जड़ जगत्के नित्य आश्रयरूपमें अधिष्ठित हैं, और जो जिज्ञासुओं-के परम जिज्ञास्य तथा ज्ञानियोंके परम ज्ञेय हैं—उन्हें औपनिषद् ब्रह्मकी संज्ञा दी गई है । उपरोक्त श्रुतिने जिस ब्रह्म-वस्तुका निर्देश किया है—वे सविशेष हैं अथवा निर्विशेष,इसकी विवेचना करनेके लिये हम दो सम्प्रदायोंको लक्ष्य करते हैं । इनमें एकका नाम विशिष्टाद्वैतवादी अर्थात् सविशेषवादी है और दूसरे-का केवलाद्वैत या निर्विशेषवादी ।

ब्रह्म,जीव और जगतके सम्बन्धमें निर्विशेष-वादियोंकी कल्पना

निर्विशेषवादियोंका कथन है—'जड़ जगत् और जीव जगत्के भीतर जो विशेषताएँ दिखलाई पड़ती हैं, वे अनित्य और मिथ्या हैं, क्योंकि ब्रह्म निर्विशेष है । ऐसी विशेषताएँ अज्ञानसे—भ्रान्तिसे प्रतीत मात्र होती हैं । उनका वस्तुतः कोई अधिष्ठान नहीं । खण्ड दृष्टिकोणसे दर्शन करनेसे द्रष्टा ऐसी मिथ्या धारणाओं के वशीभूत हो पड़ता है । सच तो यह है कि ब्रह्म शक्ति-रहित और विशेष-शून्य वस्तु है । ब्रह्म चिद्-वस्तु है, इसलिये उसकी सत्तामें विशेषत्व रहनेकी कोई संभावना नहीं । विशेषत्व अथवा भेद जड़माया द्वारा (अज्ञानके द्वारा) कल्पित होता है । माया दूर हो जानेपर स्वगत, सजातीय और विजातीय भेद-शून्य केवल चिन्मात्र ब्रह्म वर्त्तमान रहता है ।'

सविशेषवादीका ब्रह्म नित्य सविशेष होता है

सविशेषवादियोंका कहना है—'जड़ीय विशेष-युक्त पदार्थ नश्वर हैं । अतः जड़ जगत् नश्वर है । नश्वर होनेपर भी जगत्की प्रतीति मिथ्या नहीं, प्रत्युत् सत्य है । जड़ जगत् ब्रह्मकी बहिरङ्गा-शक्तिका परिणाम है और तद्रूप-वैभव अर्थात् चित्-जगत्—ब्रह्मकी अन्तरङ्गा शक्तिकी परिणति है । इन अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग शक्तियोंके बीचमें—तट प्रदेशपर इन दोनों जगतोंसे अतिरिक्त एक ऐसे अणुचित् जीव-जगत्की स्थिति होती है जो चित् और अचित् दोनों जगत्में विचरण करता है । ब्रह्ममें विशेष-धर्म नित्य वर्त्तमान होता है अर्थात् ब्रह्म नित्य-सविशेष वस्तु

है। बहिरङ्गा-शक्ति परिणत अचित् जगत्को या जीव जगत्को मिथ्या माननेकी कोई आवश्यकता नहीं।'

जीव अणुचित् पदार्थ है; तटस्थ धर्मके कारण चिद् जगतसे उसके पतनकी संभावना होती है

चेतन-पदार्थ जड़-पदार्थके ठीक विपरीत होता है। किन्तु भगवान्की अचिन्त्य-शक्ति जीव नामक एक ऐसे अणुपदार्थका निर्माण करती है जिसका स्वरूप अणुचित् होनेपर भी उसमें जड़ पदार्थोंको ग्रहण करनेकी प्रवृत्ति होती है। यह प्रवृत्ति उसके स्वरूपके गठनके साथ उसमें नित्य वर्त्तमान होती है। ब्रह्मकी अंतरङ्गा शक्तिके परिणाम-स्वरूप चिद्जगत्में—वैकुण्ठमें नित्यकाल अवस्थित रहनेपर भी अगर अणुचिद्जीव जड़-जगत्की चिन्ता करता है तो उसके स्वरूप-भ्रान्तिकी संभावना होती है। ब्रह्मकी बहिरङ्गा-शक्तिके परिणामस्वरूप जड़-जगत्का दर्शन करते-करते जीव, अन्तरङ्गा-शक्ति द्वारा प्रकाशित चित्जगत्के दर्शनसे विमुख हो जाता है। उसी समय वह आत्म-विस्मृत होकर शरीर और मनरूप जड़ पदार्थोंमें ही आत्मबुद्धि करता है। देह और मन जड़ पदार्थ हैं और बद्धजीवमें जड़ पदार्थोंके भोक्तृत्वकी भावना होती है।

अधोक्षज कृष्णकी अनुकूल सेवा ही मुक्तिका कारण है

स्वरूपमें प्रतिष्ठित होकर आत्माके नेत्रोंसे जीव जब भगवान् और तद्रूप-वैभवका (चित् जगत्का) दर्शन करता है, तभी उसका जड़ीय परिचय कुछ कम होता है। अनुकूल भावसे अधोक्षज अर्थात् इन्द्रियातीत भगवान्की सेवा करनेसे जीवोंकी भोगमय प्रवृत्ति दूर हो जाती है। भगवान्की सेवाके अभावमें ही जीव विषय-भोगोंमें आसक्त हो पड़ता है। जिस समय जीव आत्मेन्द्रियोंसे विष्णुकी सेवासे विमुख होकर जड़ेन्द्रियों द्वारा विषय-सुखोंको भोग करनेकी लालसासे इतस्ततः भटकता है, उस समय वह कृष्णको माया-शक्तिके रूपमें ही उपलब्धि करता है।

अर्थ, धर्म, काम और मोक्षकी कामना करने वाला अद्वैतवादी विष्णुमें पंचदेवताका आरोप करता है, किन्तु निष्काम विष्णु-सेवा ही आत्माका नित्य धर्म है

जिस समय बद्धजीव अर्थसिद्धिकी लालसासे विष्णुकी नित्य सेवा परित्याग कर देता है—उस समय वह विष्णुको ही गणेशके रूपमें देखता है। जिस समय प्रापञ्चिक अनुभूतिविशिष्ट होकर धर्मकी कामना करने वाले देह और मन विष्णुकी पूजा करते हैं—वे विष्णुको ही सूर्यके रूपमें दर्शन करते हैं। धर्म और अर्थकी इच्छा करनेवाले अपने भोगमय दृष्टिकोणसे सूर्य, गणेश और शक्तिकी सेवाको ही विष्णुकी सेवा मानते हैं। फिर वे ही जब मोक्षकी कामना करते हैं तब अपने उपास्यको रुद्ररूपमें दर्शन करते हैं। जड़ विषयोंकी भोग-पिपासा ही जीवको बद्ध अनुभूति प्रदानकर उसे अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष का दास बना देती है। विष्णुकी उपासनामें किसी तरहकी जड़कामना नहीं होती। वहाँ तो केवल विशुद्ध सत्त्व ही प्रबल होता है तथा आत्मेन्द्रियोंसे सर्वदा विष्णुकी सेवा होती है। यही आत्मतत्त्वदर्शी जीवोंका नित्य धर्म है।

विष्णुको मायिक गुणोंसे युक्त और पंच-देवताओंके समान मानना अपराध है

विष्णुकी मायासे मोहित होकर जीव तरह-तरह की कामनाओंके आधीन हो जाता है तथा अर्थ, धर्म, काम और मोक्षकी प्राप्तिके लिए निर्विशेष ब्रह्मके किसी एक रूपकी कल्पना कर लेता है। परन्तु मुक्त पुरुष निष्काम होकर विशुद्ध सत्त्व-स्वरूप भगवान्को ही पर-ब्रह्म जानता है। भगवान्को मायिक गुणोंसे युक्त—सगुण उपास्य मानना अपराधका परिचय है। जीव अनित्य धारणाओंके वशीभूत होकर बद्ध अभिमानकेकारण विशुद्ध सत्त्वस्वरूप विष्णुके निकट भी किसी-किसी समय जड़ कामनाओंकी पूर्त्तिके लिए प्रार्थना करता है। ऐसी विष्णु उपासना पंचोपासनाके

अन्तर्गत होती है। निर्गुण ब्रह्मको प्रकृतिके अन्तर्भुक्त मानकर जो कामनामूलक उपासना जगत्में प्रचलित हैं, उसके भोक्ता-स्वरूप शरीर और मनको ही विवर्त्त बुद्धिके कारण आत्मा माना जाता है। भगवान्का शरीर विशुद्ध सत्त्वका होता है। उनके शरीर, मन और आत्मामें परस्पर कोई भेद नहीं होता। आत्म-ज्ञानके अभावमें, कामनाओंका दास होकर विष्णुको सगुण और काल्पनिक-ब्रह्मके समान मानना—अपराध सूचक है।

सगुण अथवा पंचोपासनाका उद्देश्य—निर्विशेष ब्रह्म है और निर्गुण उपासनामें विष्णु ही पर-ब्रह्म हैं

विशुद्ध सत्त्व स्वभाववाले जीव—विष्णुकी,सत्त्व और रजमिश्रित गुणवाले सूर्य की, सत्त्व और तम गुणोंसेयुक्त जीव—गणेशकी, रजः और तम मिश्र गुणवाले शक्तिकी तथा तामसिक स्वभावापन्न जीव रुद्रकी उपासना करते हैं। इन सभी सगुण उपासना-ओंमें उपासकका लक्ष्य—निर्विशेष ब्रह्म होता है।जब शुद्ध जीवकी आत्मा माया द्वारा आच्छादित हो जाती है,तब वह अपनेको मायिक गुणोंका दास समझने लगता है। ऐसी अवस्थामें जीवोंमें जड़ीय चेष्टा प्रकाश पाने लगती है। इन्हीं जड़ीय चेष्टाओंके प्रभावसे उनमें विशुद्ध सत्त्वके आश्रयरूप श्रीविष्णुको भी गुणावतार समझ कर उपासना करनेकी प्रवृत्ति जाग्रत होती है। फिर किसी सौभाग्यसे अगर उसे अपने स्वरूपकी निर्गुणता उपलब्धि होती है, तो वह सविशेष विष्णुको—परब्रह्म और अपनेको वैष्णव होनेका विश्वास करता है। दूसरी तरफ साधकोंके हितके लिए अनित्य गुणोंसे युक्त ब्रह्मकी काल्पनिक मूर्त्तियोंकी उपासनाका अन्तिम और निश्चित परिणाम होता है—निर्विशेष ब्रह्म।ऐसे साधक कल्पना करते है कि उपासक, उपास्य और उपासनाका वस्तुतः कोई अस्तित्व नहीं है। अभी जो दीख पड़ता है अथवा जबतक उपासक और उपास्यका अस्तित्व रहता है, तबतक यह अस्तित्व भ्रमके कारण आरोप होता है। जब उपास्य और उपासककी भ्रान्ति दूर हो जायगी,वे निर्विशेष ब्रह्म हो जायगें। आजकल पञ्चोपासनामें और भी दो उपासनाओंको मिलाकर सप्तोपासनाकी सृष्टि हुई है। ये दो उपासनाएँ हैं—चन्द्रधिष्णय और क्रॉस। इन सबका अन्तिम उद्देश्य मुक्तिसे ही है।

बुद्धदेवका बोधराहित्य मतवाद भी निर्विशेषवादमें परिणत हुआ है

शाक्यसिंह मुक्तिमें बोधराहित्य स्वीकार करते हैं। केवलाद्वैत निर्विशेषवादी मुक्त अवस्थामें बोद्धा, बोधव्य और बुद्धिसे रहित अखण्ड बोध स्वीकार करते हैं। जीव बद्धावस्थामें नाना प्रकारके क्लेशोंसे पीसा जाता है। वह उस समय अपने अस्तित्वपर असुविधाएँ बोध करता है। ऐसी अवस्थामें अगर वह प्रतीतिकी सत्यतापर—आत्माके अस्तित्वकी नित्यता पर दृढ़ विश्वास करता है, तो उसके लिये यह आवश्यक है कि वह उन असुविधाओंसे मुक्त हो जाय जिससे उसके अस्तित्वकी रक्षा हो सके, न कि अपने अस्तित्वको सदाके लिए मिटा दे। किन्तु निर्विशेषवादियोंके फेरमें पड़कर अस्तित्व मिटा कर निर्विशेष ब्रह्म होनेकी बातपर विश्वास कर अब तो दूसरी वस्तुके रूपमे परिणत हो गए अर्थात् वे पहली चीज न रहे।

ब्रह्ममें निर्विशेष लय प्राप्त होनेसे जीव अनित्य हो जाता है।

अगर जीव अपनी निर्मल सत्ता, चिन्मयता और अपने आनन्दका परित्याग कर विभुवस्तुकी (भगवान्की) सत्ता, चिन्मयता और आनन्दकी निर्विशेष अवस्थामें—जिसे ब्रह्म कहते हैं, लीन हो जाय तो उसका नित्य अणुचिद् स्वरूप लोप हो जायगा। बद्ध दशाके कारण जीवके धर्ममें दोष आ जाते हैं और ऐसे दोषोंसे मुक्त होनेकी आवश्यकता है—यह बात ठीक है, किन्तु हमारा अणुचित् धर्म ध्वंस हो जाय, आत्माकी सत्ता नष्ट हो जाय—ऐसी क्रिया मानना अपने नित्यत्वके लिए हानिकारक है। मुक्त

अवस्थामें नित्य अणुधर्म दूर हो जानेसे अब वे पहली वस्तु न रहे।

जड़ीय अणुत्व दोषपूर्ण है, किन्तु चेतनका अणुत्व उपादेय और दोषरहित है

जड़ीय अणुत्व दोषपूर्ण होता है—हम मानते हैं; किन्तु चिन्मय अणु-स्वरूपमें वैसे दोषोंकी तनिक भी संभावना नहीं है। भगवान्‌की नित्य सेवा विराजित होनेसे वहाँ अनुपादेयता और क्लेश आदि नहीं होते, अथच नश्वरता, हेयता और दुःख आदिका वहाँ पूर्णरूपसे अभाव होनेके कारण मुक्तिमें पाया जाने वाला विषय-समूह भी ज्यों-का-त्यों वर्त्तमान रहा।

पञ्चोपासकोंकी अपेक्षा वैष्णवोंकी श्रेष्ठता

पञ्चोपासक लोग नश्वर फलोंकी कामना करते हैं। किन्तु ऐकान्तिक वैष्णव फलोंकी कामना नहीं करते। वे भगवान्‌का नित्यदास होना स्वीकार करते हैं। पञ्चोपासक लोग—कर्मफलके अधीन होते हैं, परन्तु वैष्णव—कर्मफलसे अतीत होते हैं। वैष्णवोंके विचारसे भगवत्स्वरूप नित्य होता है, उसका कभी गठन नहीं होता, जड़ चिन्ताधारा चालू होनेके पहलेसे ही अर्थात् जड़ जगत् सृष्टि होनेके पूर्व भी नित्यरूप भगवान् नित्यकाल वर्त्तमान थे और उनके साथ उनके नित्य उपासक-वैष्णव लोग भी वर्त्तमान थे। दूसरी तरफ, साधकोंके हितके लिए उनकी कामनाओंके अनुसार ब्रह्मका सगुण 'रूप'—कल्पित पञ्चोपासना—क्षणभंगुर है, परिवर्त्तनशील है तथा बद्ध जीवोंकी कल्पनाकी चीज है।

—ॐविष्णुपाद श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती

प्रवृत्ति और निवृत्ति

जगत्‌को सर्वस्व माननेवाले युक्तिवादियोंका विचार

बहुतसे आधुनिक और पुरातन युक्तिवादी (बुद्धितत्वके विकासवादी) मुक्तिके विषयमें प्रतिवाद (तर्क) करते हैं। उनका पहिला तर्क यह है कि—'इस ब्रह्माण्डकी रचना ईश्वरने की है, अतएव यह मनुष्य मात्रके लिए वांछनीय है। जगदीश्वरने हमें युक्तिशक्ति—बुद्धि प्रदान कर जगत्‌में रहनेके लिए व्यवस्थाकी है। अभी हमारी बौद्धिक धारणाएँ अपूर्ण और सदोष हैं। किन्तु ये धारणाएँ पूर्ण प्रत्ययकी ओर क्रमशः विकसित होकर आगे बढ़ती रहती हैं। मानव अपनी बौद्धिक शक्तिको परिचालितकर समाज और तत्सम्बन्धी अनेकानेक व्यवस्थाओंको स्थापित और शृंखलित कर संसारमें सुख-भोग करता है। बहुतसे नये-नये आविष्कारोंके द्वारा जगत्‌में सुखोंको बढ़ाया है और बढ़ाता जा रहा है। इस तरह यह समग्र विश्व-ब्रह्माण्ड पूर्णताकी ओर अग्रसर हो रहा है और क्रमशः उन्नत होते-होते एक दिन अपूर्व, दुःख-रहित, पूर्ण सुखमय धाम हो जायगा। उस समय मानव अनायास ही समस्त प्रकारके पूर्ण सुखोंको इसी जगत्‌में भोग कर सकेंगे। ईश्वरका यही अभिप्राय है।'

युक्तिवादियोंके विचारोंका खण्डनः--

[क] देह और मनसे अतिरिक्त आत्माका निर्देश

किन्तु उपरोक्त विचार युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। क्योंकि इस प्राकृत-जगत्‌के विपरीत स्वतःसिद्ध प्रत्यय दृष्टिगोचर होता है। स्वभावतः आत्मामें एक प्रकारकी अप्राकृत आशाकी झलक दीख पड़ती है।

अगर हम हाड़-मांसके इस स्थूल शरीर तथा मनोमय लिंग-देहको-भेद कर आत्म-भूमिकामें उपस्थित हों, तो समाधीकी अवस्थामें इस बातको प्रत्यक्षरूपमें देख सकते हैं। हम वहाँ देखेंगे कि हमलोग सरायमें ठहरने वाले यात्रीकी तरह सप्त आवरणोंसे घिरी हुई इस देहमें निवास कर रहे हैं। तथा हममें अपने नित्यधामको लौट जानेकी एक सुतीव्र आशा वर्त्तमान है। उदाहरणके लिये, कोई यात्री पुरीधाममें श्रीजगन्नाथजीके दर्शनोंके लिए अत्यन्त व्याकुल होकर जा रहा है। रास्तेमें बहुतसी पान्थशालाएँ होती हैं। वह पथिक रात्रिमें उन्हीं पान्थशालाओंमें ठहर जाता है और अगले अरुणोदयकी प्रतीक्षा करता है। भोर होते ही वह आगे चल देता है। हमलोग भी ठीक उसी तरह इस प्राकृत शरीरमें अज्ञानकी रात बीता कर ज्ञान-सूर्यकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

[ख] देह और मन आत्माके लिए सराय स्थानीय हैं, उसमें आसक्ति करना वृथा है

अगर यात्री उस सरायको अपना मानकर उसमें आसक्ति करता है, तथा उसकी उन्नतिके लिए यत्न करता है तो उसकी मूर्खता है। बुद्धिमान यात्री कभी भी ऐसा नहीं कर सकता। उस सरायकी उन्नतिके लिए तो वही व्यक्ति कोशिश करेगा, जो सरायका मालिक है, और जिसे यात्रियोंको टिकाकर लाभ होता है। जिस पुरुषने इस पाञ्चभौतिक शरीर रूपी सरायकी सृष्टि की है, वही इसका पालक और रक्षक भी है। किंकर्त्तव्यविमूढ़ पथिक इस सरायमें आसक्त होकर इसमें ममत्व बुद्धिका आरोप करता है तथा इसकी उन्नतिका प्रयत्न करता है। ईश्वर भी ऐसे व्यक्तियोंके द्वारा अपना कार्य हासिल कर लेते हैं। उनके द्वारा ऐसा करवानेमें ईश्वरके असीम कौशलका ही परिचय मिलता है। अगर सरायमें ठहरा हुआ पथिक उस सरायके प्रति आसक्त होता है -उसे अपना मानता है तो यह उसका अपराध है और उसी अपराध के लिए दण्डके रूपमें वह अनावश्यक परिश्रम करनेके लिए मजबूर होता है। इस परिश्रमके लिए उसे कुछ भी हाथ नहीं लगता, सिवा उसके पूर्व पापों के क्षय होनेके। दूसरी तरफ अगर इस जगत् रूपी सरायमें उसकी और गाढ़ी आसक्ति हो गयी तो वहीं वास कर अपनेको वंचित करता है—अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच नहीं पाता।

[ग] इस पांचभौतिक जगत्की रचना अभावोंसे हुई है, अतः यह नित्यकाल अपूर्ण ही रहेगा

जीव इस मायिक ब्रह्माण्डका चिर निवासी नहीं है, यह स्वतःसिद्ध है; अतएव इनको यदि ब्रह्माण्ड की प्रजा कही जाय तो यह स्वतः सिद्ध विश्वासके विरुद्ध हो जाता है। भौतिक ब्रह्माण्ड कितना कितना ही उन्नत क्यों न हो जाय वह पूर्ण निर्दोष कदापि नहीं हो सकता। यहाँ कभी भी विमल सुखोंकी प्राप्ति नहीं हो सकती—यह भी एक स्वतः सिद्ध विश्वास है। पञ्चभूतकी उत्पत्ति मायासे हुई है। अतएव इसमें सर्वदा अभाव बना रहता है। अभाव ही इसका स्वभाव है। इसलिए भौतिक ब्रह्माण्ड किसी भी कालमें अभाव शून्य नहीं हो सकेगा। और पूर्णता नहीं होने तक विमल सुखकी आशा करना वृथा है। इस मायिक ब्रह्माण्डकी जितनी भी उन्नति हो, यहाँ से देश काल आदि परिच्छेदक गुण कहाँ जाएँगे? कतिपय पाश्चात्य तत्त्व विचारकोंने भी इस विषयमें भ्रान्त विचारोंको ही प्रकाश किया है।

[घ] भौतिक जगत् क्रमविकाश द्वारा कभी भी अप्राकृत नहीं हो सकता

कुछ तत्त्ववेत्ताओंका विचार है कि—ये भौतिक पदार्थ ही क्रम विकाससे अप्राकृत हो जायेंगे। हाय! वे ऐसी युक्तियाँ स्थिर करनेके समय परमेश्वरकी अचिन्त्य शक्तिका तनिक भी ध्यान नहीं रखते। यदि वे एक बार भी अपने हृदय-कन्दरेमें परम पुरुष भगवान्के सच्चिदानन्द भावको स्थान दें तो फिर ऐसे संकीर्ण तथा गंदे विचारोंका उदय नहीं हो सकता है। परमेश्वर जब सर्वशक्तिसम्पन्न हैं, तब उनकी बनाई हुई अनन्त प्रकारकी सृष्टियाँ भी हो सकती हैं। यह प्राकृत जगत् ही क्रमशः अप्राकृत हो जायेगा—इसका क्या प्रयोजन है। जो लोग प्रकृतिको सम्पूर्ण जगत्का आदिकारण मानते हैं, तथा एक महान्

चैतन्यको स्वीकार करनेमें असमर्थ हैं अथच चैतन्य-स्वरूप पुरुषको प्रकृतिका सन्तान कहते हैं, वे ही लोग प्राकृत जगत्से अप्राकृत जगत्के प्रादुर्भावकी कल्पना कर सकते हैं । सेश्वरवादी व्यक्तियोंके इन कथनोंसे आश्चर्यचकित होना पड़ता है । प्राकृत जगत् किसी समय अप्राकृत हो जायगा--ऐसा कथमपि स्वीकार नहीं किया जा सकता ।

[ङ] जीवोंके उपभोगके लिए जगतकी सृष्टि नहीं हुई है

यही नहीं, ऐसा तर्क नितान्त अयुक्तियुक्त है। वेद परमेश्वरको सत्य-संकल्प और सर्वशक्तिमान कहते हैं। जगदीश्वरने मानवोंकी क्रम-उन्नतिकी आशासे प्रथम सृष्टिके बाद ही उन्हें इस जगत्में उत्पन्न किया है—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता । क्योंकि भगवान् सर्वमंगलमय हैं, वे बिना किसी कारणके ही हमलोगों-को इस दुःखमय जगत्में क्यों गिरा देंगे। उनका ऐसा स्वभाव नहीं। यदि इस ब्रह्माण्डकी सृष्टि हमारे चिर-निवास और भोगके लिये हुई होती तो, वे अवश्य ही निर्दोष रूपमें इसकी सृष्टि करते। वे सर्वशक्तिमान हैं, अतएव इस ब्रह्माण्डके किसी विशेष परिणामकी आशा लगा कर बैठे हुए हैं--ऐसी बात भी उनके लिये संभव नहीं।

[च] सर्वशक्तिमान ईश्वर बिना कारण ही कार्य करते हैं।

बढ़ई काठ तथा बसूलेके अभावमें किसी वस्तुका निर्माण नहीं कर सकता, लोहार लोहा, हथौड़ी और आगके बिना कुछ नहीं कर सकता, कुम्हार कुदाल, चक्र, मिट्टी आदि साधनोंके बिना कुछ गढ़ नहीं सकता। ये बातें इस भौतिक जगत्के लिये ठीक हैं। किन्तु हमारे परमेश्वर भी क्या ऐसे ही अक्षम पुरुष हैं? क्या वे मानव बुद्धि और कर्मफलकी सृष्टिके बिना इस संसारको उन्नत नहीं कर सकते थे? आह! जिस महापुरुषकी इच्छामात्रसे ही सत् और असत् जगत्की उत्पत्ति होती है, कार्य करनेकी इच्छा होनेपर क्या उनको किसी द्रव्य या यन्त्रकी आवश्यकता होती है? जो समस्त जड़, चेतन, और यन्त्र आदिके नियन्ता हैं, उनका संकल्प कभी अपेक्षात्मक नहीं हो सकता।

[छ] प्राकृत और अप्राकृत दोनों जगत् अवश्य स्वीकार्य हैं

भौतिक जगत् चिरकाल असिद्ध और अभाव-पूर्ण रहेगा। यह ईश्वरकी इच्छा है, अन्यथा इसकी अवस्था ऐसी नहीं होती । जीवके लिये प्राप्य किसी एक दूसरे धामको स्वीकार किये बिना कोई भी निर्दोष सिद्धान्त नहीं हो सकता । शास्त्रोंकी युक्तियों और आत्माकी प्रत्यक्ष दृष्टिके द्वारा यही सिद्ध होता है। जीव उसी अद्भुत अप्राकृत धामकी आशा रखता है। वामन पुराणोंमें उस धामके सम्बन्धमें निर्देश दिया गया है—

'श्रुत्वैतद्दर्शयामास स्वलोकं प्रकृतेः परम् ।
केवलानुभवानन्दमात्रमक्षयमध्वगम ॥'

श्रुतिमें भी—'एषः ब्रह्मलोकः एष आत्मलोक इति।' आया है। इस प्रकार प्राकृत और अप्राकृत दो जगतोंको स्वीकार करना अनादिसिद्ध कहना होगा।

(क्रमशः)

—ॐविष्णुपाद श्रीलभक्तिविनोद ठाकुर

———

मायावादकी जावनी

[पूर्व प्रकाशित वर्ष १, संख्या ११, पृष्ठ २४२ से आगे]

मायावादका सच्चा स्वरूप

गौड़पाद

मायावादके इतिहासकी आलोचना करनेके लिये श्रीगौड़पादका इतिहास हमें प्रधानरूपसे आलोक प्रदान करेगा। इसलिये उनके जीवन-चरित और सिद्धान्तों-की विवेचना करना अत्यावश्यक प्रतीत होता है। आचार्य शंकरके साथ इनका अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध ही नहीं है,अपितु आचार्यके जितने भी सिद्धान्त हैं, इन्हीं गौड़पादके विचारोंके ऊपर भित्ति स्थापन करके ही निर्मित हुए हैं। आचार्य शंकरके गुरु गोविन्दपाद हैं और गोविन्दपादके गुरु गौड़पाद। इस तरह गौड़पाद आचार्यशंकरके दादागुरु होते हैं। कोई-कोई गौड़पाद-को गौरपाद भी कहते हैं। गोविन्दपाद द्वारा रचित कोई ग्रन्थादि नहीं हैं। असलमें गौड़पाद ही शंकराचार्य के गुरु हैं। शंकर-युगमें मायावादने जैसा भीषण आकार धारण किया है, उससे भारतीय सनातन हिन्दू-समाज 'मायावादी' कहनेसे एकमात्रशंकराचार्य और तदनुयायियोंको ही लक्ष्य करता है। अतएव उनके सम्बन्धमें हमें कुछ जाननेके लिये उनके यथार्थ गुरु या आदर्श शिक्षागुरुके सम्बन्धमें कुछ-कुछ जानना विशेष आवश्यक है। हरिवंशमें श्रीगौड़पादके सम्बन्धमें वर्णन पाया जाता है—

> पराशरकुलोत्पन्नः शुकोनाम महायशाः।
> व्यासादरण्यां संभूतो विधूमोहग्निरिव ज्वलन॥
> स तस्यां पितृकन्यायां वीरिण्यां जनयिष्यति।
> कृष्णं गौडं प्रभुं शम्भुं तथा भुरिश्रुतं जयम्॥
> कन्यां कीर्त्तिमतीं षष्ठीं योगिनीं योगमातरम्।
> ब्रह्मदत्तस्य जननीं महिषी मनुहस्य च॥

अर्थात् पराशरके पुत्र व्यास, व्यासके पुत्र शुक, और शुकके पुत्र गौड़ हैं। तथा शुककी कन्या महिषीके गर्भसे ब्रह्मदत्त नामक व्यक्ति पैदा हुए।

कोई-कोई श्रीमद्भागवतमें 'शुक कन्यायां ब्रह्मदत्तं अजिजनत्।' देखकर समझते हैं कि परीक्षितको उपदेश देनेवाले भी यही शुक हैं। परन्तु यह उनकी भ्रान्त धारणा है। इस विषयको मैंने पहले ही स्पष्ट कर दिया है कि श्रीमद्भागवतकी व्याख्या करने वाले शुकदेवजी जाबालिकी कन्या बिटिकाके गर्भसे पैदा हुए थे। वे बाल-ब्रह्मचारी तथा बाल्यकालसे ही संसार-त्यागी थे। अतएव उन अकुमार ब्रह्मचारी अर्थात् अविवाहितको कोई कन्या होनेकी संभावना नहीं। हरिवंशमेंवर्णित शुकके सम्बन्धमें ही गार्हस्थ्य आदि व्यवहार प्रयोज्य हैं। श्रील श्रीधरस्वामीपादकी उक्त श्लोककी टीकासे विदित होता है कि इन गृहस्थ शुकका दूसरा नाम छाया शुक भी है। उनकी टीका-का वह प्रासंगिक अंश यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

'यद्यपि शुक उत्पत्त्येव विमुक्तसंगो निर्गतस्तथापि विरहातुरं व्यास मनुयान्तं दृष्ट्वा (छाया शुकं) निर्म्माय गतवान्। तदभिप्रायेणैवायं गार्हस्थ्यादि-व्यवहारः इत्यविरोधः। स च ब्रह्मदत्तो योगी गवि वाचि सरस्वत्याम्।'

देवी भागवतमें इन्हीं छायाशुकके ही पुत्रके रूपमें श्रीगौड़पादका नाम उल्लिखित हुआ है। किसी-किसी का कहना है—श्रीगौड़पादने अपने पिता छायाशुकका शिष्यत्व ग्रहण किया था। एक दिन छायाशुकके पिता व्यासका चित्त घृताची नामकी एक अप्सराको देख कर चंचल हो गया और वहीं उनका वीर्य स्खलित हो गया। उन्होंने उस वीर्यको अरणिके गर्भमें(वनमें)फेंककर छायाशुकका जन्मदान किया था। इसी शुकने अपने पिताकी कन्या अर्थात् अपनी सहोदरा बहन वीरिणीके गर्भमें आचार्य शंकरके दादागुरु श्रीगौड़पादका जन्म दिया था। इस प्रकार कलिकालमें गौड़पाद पैदा होकर अपनी पाण्डित्य प्रतिभासे तात्कालीन जगत्को मुग्ध

गीताकी वाणी

(७)

द्वितीय अध्यायके स्थित-प्रज्ञका विचार

सकाम कर्मोंमें आशक्त न होकर निर्गुण भक्तिका आचरण करना ही कर्त्तव्य है—इसे समझानेके लिए भगवान् कहते हैं,—'निखिल वेद निर्गुण तत्त्वका ही निर्देश करते हैं। प्रारम्भिक अवस्थामें निर्गुण तत्त्वकी उपलब्धि नहीं होती, इसीलिए वेद आदि शास्त्रोंमें कहीं कहीं सत्त्व, रज और तमोगुणसे युक्त कर्म और ज्ञानका उपदेश दिया गया है। परन्तु निर्गुण भक्ति ही उनका चरम प्रतिपाद्य विषय है। मान और अपमान आदि द्वन्द्वोंसे अतीत और आत्मपरायण होकर योग (सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्ति) तथा क्षेम (उनकी रक्षा) की भावनाको दूर रखते हुए बुद्धियोगको अंगीकार करनेसे त्रिगुणातीत हुआ जा सकता है। गुणोंके अधीन होकर कर्म करनेसे संसार-बंधन प्राप्त होता है। तथा गुणोंसे अतीत होना ही संसारसे मोक्ष प्राप्त करना है। इसीलिए आकांक्षा और आसक्तिसे शून्य होकर कर्म करनेके लिए ही उपदेश है। कर्मोंके आचरणमें यह बुद्धियोग ही कौशल है। बुद्धिसे युक्त होकर पाप और पुण्यात्मक कर्मोंका त्यागकर केवल भगवत्प्रीति उत्पन्न कराने वाले कर्मोंका आचरण करना ही कर्त्तव्य है। पण्डित व्यक्ति बुद्धियोगका अवलम्बन कर, कर्मफलोंकी आशाका त्याग कर, जन्मबन्धनसे मुक्त होकर वैकुण्ठ लोकमें गमन करते हैं। पाप और पुण्य दोनों जीवके लिए बन्धन के कारण हैं।

कृष्ण-विमुख जीव भोगबुद्धिके कारण सुखोंकी आशा लेकर निरन्तर उनके सम्बन्धमें सुनता है, ध्यान करता है और अंतमें उन्हीं विषयोंमें डूब जाता है।

यदि ऐसे जीवको कभी सत्संङ्ग प्राप्त हो तथा वहाँ उसे आत्म-तत्त्वके विषयमें सुननेका सुयोग मिले, तो विषय-सुखके प्रति उसका वैराग्य उत्पन्न हो सकता है। उसी समय उसे अपने यथार्थ कर्त्तव्यका ज्ञान हो जाता है। सत्सङ्गके द्वारा वह उपलब्धि करता है कि यदि वह अपने मनसे समस्त कामनाओंका त्याग करदे तथा आत्मदर्शनमें सन्तुष्ट रहे, तभी उसका ज्ञान स्थिर हो सकता है। ऐसी दशामें वह शारीरिक, मानसिक अथवा अन्य किसी प्रकारके क्लेशों द्वारा उद्वेग प्राप्त नहीं होता, सुख प्राप्त होने परभी उसमें उसकी स्पृहा नहीं होती और अपने किये हुए कर्मोंमें अनुराग, भय और क्रोधसे मुक्त होकर स्थित-प्रज्ञ कहा जाता है। जो ऐसी अवस्थामें पहुँच जाते हैं, वे जड़-विषयोंमें स्नेह-रहित हो जाते हैं और जड़ीय शुभ और अशुभोंको प्राप्त होकर न तो हर्ष करते हैं, न द्वेष। जब तक यह शरीर है, सुख-दुःख, हानि-लाभ तथा जय-पराजय अनिवार्य हैं; किन्तु स्थित-प्रज्ञ व्यक्ति उनसे विचलित नहीं होता। उसकी इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंमें विचरण करने पर भी स्वाधीन होकर विचरण नहीं करतीं। जैसे कछुआ अपनी इच्छासे अपने अङ्गोंको कभी बाहर करता है और कभी भीतर समेट लेता है, वैसे ही वे भी अपने इन्द्रियोंको अपनी बुद्धिसे चलाते हैं। बहुत से रोगी रोग बढ़नेके डरसे विषयोंसे अपनी इन्द्रियोंका संयम रखते हैं, किन्तु उन्हें 'स्थित-प्रज्ञ' नहीं कहा जासकता। क्योंकि वे अपनी इन्द्रियोंको रसास्वादन करनेसे रोक लेते हैं सही, किन्तु रस ग्रहण करनेकी अभिलाषा तो दूर नहीं होती। 'रोग दूर होनेपर फिर रसका आस्वादन करूँगा'—उनके अन्दर ऐसी अभिलाषा रहती है। किन्तु विषय-रसकी अपेक्षा अत्यन्त श्रेष्ठ भगवद् रसका आस्वादन मिलनेपर जड़-रसकी लालसा अपने आप दूर हो जाती है। शुष्क ज्ञानी शुष्क वैराग्यके द्वारा (जड़ उपरति द्वारा) अपने चित्तको राग-रहित करनेकी चेष्टा करता है, किन्तु अत्यन्त बलवान

इन्द्रिया बलपूर्वक उनके मनको विषयोंकी ओर खींच लेती हैं। परन्तु उन्हीं इन्द्रियोंको परमात्माकी सेवामें लगा दिया जाय तो वे कभी भी विषयगामिनी नहीं हो सकतीं। इसीका नाम 'युक्त' अवस्था है।

भगवत्सेवामें नियुक्त नहीं होनेसे युक्त अवस्था नहीं होती। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्णचैतन्यदेवने युक्त वैराग्यकी शिक्षा दी है। भगवत्सेवाके अनुकूल कर्मोंका ग्रहण, प्रतिकूल कर्मोंका त्याग, भगवान्को अपना पालनकर्त्ता मानकर वरण, वे अवश्य रक्षा करेंगे—ऐसा विश्वास, भगवान्के चरणोंमें आत्म-निवेदन तथा दैन्य—ये शरणागत व्यक्तिके लक्षण हैं। इस प्रकार शरणागत होकर जीव यथार्थतः 'युक्त' हो सकता है।

राजर्षि अम्बरीषने अपनी समस्त इन्द्रियोंको भगवान्की सेवामें नियुक्त करनेका महनीय आदर्श दिखलाया है—

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो-
वचांसि वैकुंठगुणानुवर्णने ।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु,
श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये ॥
मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ
तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गमम् ।
घ्राणं च तत्पाद सौरभे
श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते ॥
पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे
शिरो हृषिकेशपदाभिवन्दने ।
कामं च दास्ये न तु काम काम्यया
यथोत्तम श्लोक जनाश्रया रतिः ॥

'महाराज अम्बरीषने अपने मनको श्रीकृष्ण-चन्द्रके चरणारविन्दयुगल में, वाणीको भगवद्-गुणानुवर्णनमें, हाथोंको श्रीहरिके मन्दिरके मार्जन-सेचनमें और कानोंको भगवान् अच्युतकी मंगलमयी कथाओंके श्रवणमें, आँखोंको श्रीकृष्णकी मूर्त्ति और मन्दिरोंके दर्शनमें, अंगको भगवद्भक्तोंके शरीर स्पर्शमें, नासिकाको कृष्णके पाद-पद्मोंके सौरभ आघ्राण करनेमें, रसना (जिह्वा) को भगवान्को अर्पितकी हुई तुलसीके आस्वादनमें, पैरोंको भगवान् के क्षेत्र आदिको पैदल यात्रा करनेमें, मस्तकको हृषिकेशके चरण-कमलोंमें झुकाकर प्रणाम करनेमें, कामनाको भगवद्दास्यमें अर्थात भगवान्की दासता प्राप्त करनेके लिए नियुक्त किया था, विषयोंको भोगने के उद्देश्यसे नहीं। और इसलिए कि उत्तमःश्लोक भगवान्के भक्तोंमें प्रीति हो अथवा भगवद्भक्तोंकी तरह भगवत्-प्रेम प्राप्त हो सके।

जो लोग 'युक्त' नहीं होते उनका मन विषयोंसे निवृत्त नहीं होता। ऐसे लोग 'अयुक्त' हैं। अयुक्त व्यक्ति भगवान् सम्बन्धी भावनाओंसे विरत होनेके कारण शान्ति लाभ करनेके अधिकारी नहीं होते हैं। अतः वे सुखी नहीं हो सकते। इन्द्रियोंको विषयों में विचरण करानेसे मन भी उसमें रम जानेके लिए विवश होता है; क्योंकि विषयोंमें विचरने वाली इन्द्रियोंके पीछे जो मन लगाया जाता है, वह उसकी बुद्धिको वैसे ही हर लेता है जैसे जलमें नौकाको प्रतिकूल वायु। जिसकी इन्द्रियाँ विषयोंसे सर्वथा निगृहीत हैं अर्थात् सम्पूर्ण रूपसे वशमें हो चुकी हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर होती है। जैसे अन्यान्य जल (नद-नदियों के) समुद्रमें प्रवेश करनेपर भी, समुद्र किसी भी विकारको प्राप्त नहीं होता, वैसे ही जिस पुरुष में सारे काम भोग प्रवेश करके भी कोई विकार उत्पन्न नहीं करते, वही स्थित-प्रज्ञ है और वही शान्ति लाभ कर सकता है।

जो साधारण प्राणियोंके लिए रात्रि है, उसमें संयमी जागता है और साधारण प्राणी जिस विषयमें जाग्रत होते हैं, वह आत्मदर्शी मुनियोंकी रात्रि है।

जीव दो प्रकारके होते हैं—ज्ञानी और अज्ञानी। अज्ञानीके लिए जो रात्रि है, ज्ञानीके लिए वही दिन है तथा अज्ञानीके लिए जो दिन है, वही ज्ञानीके लिए रात्रि है। दिन और रातका अन्तर—वस्तुसे सम्बन्धित ज्ञान और अज्ञानको लेकर होता है। चाहे कोई भी क्यों न हो, जिस समय वह वस्तु सम्बन्धी ज्ञान लाभ कर लेता है—वही समय उसके लिए दिनके समान है। और जब तक वस्तु सम्बन्धी

जैव-धर्म

[पूर्व प्रकाशित वर्ष १, संख्या ११, पृष्ठ २६१ से आगे]

पंचम अध्याय

वैधी भक्ति—नित्यधर्म है, नैमित्तिक नहीं

लाहिड़ी महाशयके शान्तिपुर वाले मकानमें अनेक लोग हैं। उनके दो लड़के लिख-पढ़कर मनुष्य हुए हैं। एकका नाम चन्द्रनाथ है; उनकी उम्र पैंतीस वर्षकी है। वे जमींदारी और घरके सारे काम-काज सँभालते हैं। वे चिकित्सा-शास्त्रके पण्डित हैं; धार्मिक मामलोंमें कोई कष्ट उठाना पसन्द नहीं करते; किन्तु ब्राह्मण समाजमें उनका अच्छा सम्मान है। दास-दासी और दरबान आदि रखकर घरका काम खूब ठाट बाटसे करते हैं। दूसरे पुत्रका नाम देवीदास है। इन्होंने छोटेपनसे न्यायशास्त्र और स्मृतिशास्त्रका अध्ययन कर अपने घरके सामने एक पाठशाला खोल रखी है। उसीमें वे दस-पन्द्रह लड़कोंको पढ़ाया करते हैं; उनकी उपाधि विद्यारत्नकी है।

एक दिन शान्तिपुरमें एक अफवाह उड़ी कि कालीदास लाहिड़ी भेख लेकर वैष्णव हो गए हैं। घाट, बाट और बाजारमें सर्वत्र यही एक चर्चा थी। कोई कहता,—'बुड्ढा सठिया गया है। इतने दिनों तक भले आदमीकी तरह रहकर अब पागल हो गया है।' कोई कहता,—'अच्छा! यह कौन सा रोग है?—घरमें सुख है, जातिके ब्राह्मण हैं, पुत्र-परिवार सभी अपने कहनेमें हैं, आखीर ऐसे लोग क्यों, किस दुःखसे भेख लेते हैं?' किसीने कहा,—'धर्म-धर्म चिल्लाते हुए इधर-उधर घूमनेसे अंतमें ऐसी ही दुर्गति होती है।' किसी एक सज्जन व्यक्तिने भी कहा,—'कालिदास लाहिड़ी महाशय बड़े पुण्यात्मा हैं। संसारमें सब कुछ है, फिर भी अंत समयमें हरिनाम में प्रेम हो गया है।'—ऐसी ही तरह तरहकी बातें हो रही हैं। किसीने इन बातोंको सुनकर देवीदास विद्यारत्नसे जाकर कह दिया।

विद्यारत्नजी बड़े चिन्तित हुए और बड़े भाईके पास जाकर बोले,—'भाई साहब! पिताजीको लेकर तो बड़ी मुश्किल दिखलाई देती है। वे स्वास्थ्य अच्छा रहनेके बहाने नदियाके गोद्रुममें रहते हैं, किन्तु वहाँ उनका संग अच्छा नहीं है। गाँवमें तो कान नहीं दिया जाता है।

चन्द्रनाथने कहा,—'भाई! मैंने भी कुछ कुछ सुनी है। हमारा घराना इतना ऊँचा है, परन्तु पिताजीकी करतूत सुनकर अब मुँह दिखाया नहीं जाता। हमलोग अद्वैत प्रभुके वंशका अनादर करते आरहे हैं—अब अपनेही घरोंमें क्या हुआ! आओ अन्दर चलें, माताजीके साथ इस विषयपर विचार कर जैसा उचित हो, करो।'

दोतल्लेके बरामदेमें चन्द्रनाथ और देवीदास भोजन करने बैठे हैं। एक विधवा ब्राह्मणी परोस रही हैं। गृहणी माता ठाकुरानी बैठकर उन्हें भोजन करा रही हैं। चन्द्रनाथने कहा,—'माँ! पिताजीकी बात कुछ सुनी है?'

माताजी बोलीं,—'क्यों, वे अच्छी तरह हैं तो?' वे तो हरिनाममें पागल होकर श्रीनवद्वीपमें हैं न। तुम लोग उन्हें यहाँ क्यों नहीं लिवा लाते?'

देविदासने कहा,—'माँ! पिताजी अच्छी तरह तो हैं, लेकिन जैसा सुनते हैं, अब उनका अधिक भरोषा नहीं। बल्कि उन्हें यहाँ लानेसे हमी लोगोंको समाजसे बाहर होना पड़ेगा।'

माताजी कुछ घबड़ाकर बोलीं,—'आखीर उन्हें हुआ क्या है? उस दिन बड़े गोसांईकी बधूके साथ गङ्गा तटपर मेरी अनेक बातें हुईं थीं। उन्होंने कहा था,—'आपके पतिका बड़ा मङ्गल हुआ है—उन्होंने वैष्णवोंमें खूब सम्मान पाया है।'

देवीदासने तनिक जोरसे कहा,—'सम्मान पाये हैं कि हमारा सिर। इस बुढ़ापेमें घरपर रहकर हम-लोगोंकी सेवा ग्रहण करते, ना अब कौपीन-धारियों का जूठा खाकर हम लोगोंके उच्च वंशमें कलङ्क लगानेपर तुले हुए हैं। हाय रे कलि ! इतना देख-सुनकर भी उनकी बुद्धि कैसी हो गयी ?'

माताजी बोली,—'तब उन्हें यहीं बुला लो न। यहीं किसी गुप्त स्थानमें रखो और समझा बुझाकर उनकी मति पुनः बदल दो।'

चन्द्रनाथने कहा,—'इसके सिवा और किया ही क्या जा सकता है ? देवी दो चार आदमियोंको साथ लेकर लुक-छिपकर गोद्रुम जाय और पिताजी को लिवा लावें।'

देवीदासने कहा,—'आपलोग तो जानते हैं, पिताजी नास्तिक कहकर मेरा अनादर करते हैं। मेरे वहाँ जानेसे हो सकता है, वे मुझसे कुछ बोलें ही नहीं—यही सोच रहा हूँ।'

शंभुनाथ देवीदासके ममेरे भाई हैं। लाहिड़ी महाशय इनको खूब प्यार करते हैं। इन्होंने लाहिड़ी महाशयके साथ रहकर उनकी बड़ी सेवा की है। तय हुआ—देवीदास और शम्भुनाथ गोद्रुम जायेंगे। उसी दिन एक नौकरको गोद्रुममें एक ब्राह्मणके घर उनका वास-स्थान ठीक करनेके लिए भेज दिया गया।

दूसरे दिन भोजन करनेके बाद देवीदास और शंभुनाथने गोद्रुमकी यात्रा की। निर्दिष्ट स्थानपर पहुँच कर पालकीसे उतरकर कहारोंको विदा किया। वहाँ एक रसोईया ब्राह्मण और दो सेवक पहलेसे ही उप-स्थित थे।

संध्याके समय दोनोंने श्रीप्रद्युम्नकुंजकी ओर यात्रा की। वहाँ पहुँचकर देखा—श्रीसुरभि चबूतरे के ऊपर एक पद्मासनपर पिताजी आँखें मूँदकर बैठे माला लेकर हरिनामकर रहे हैं। समस्त अङ्गोंमें द्वादश तिलक सुशोभित हैं। देवीदास और शंभुनाथ ने धीरे-धीरे चबूतरेपर चढ़कर उनके चरणोंमें प्रणाम किये।

लाहिड़ी महाशयने चकित हो आँखें खोलीं और उन्हें देखकर बोले,—'क्यों रे शंभु ! यहाँ क्या सोचकर आया है ? देवी ! अच्छी तरह तो हो न ?'

दोनोंने अत्यन्त नम्र होकर कहा,—'आपके आशीर्वादसे हम सभी अच्छी तरह है।'

लाहिड़ी महाशयने पूछा,—'तुम लोग भोजन आदि करोगे ?

दोनोंने उत्तर दिया,—'हमने यहींपर वास-स्थान ठीक किया है, उस विषयमें आप कोई चिन्ता न करें।'

इसी समय प्रेमदास बाबाजीकी माधवीमालती मण्डपमें एक हरिध्वनि हुई। वैष्णवदास बाबाजीने अपनी कुटीसे बाहर निकलकर लाहिड़ी महाशयसे पूछा,—'श्रीपरमहंस बाबाजी महाशयके मण्डपमें हरिध्वनि क्यों हुई' ?'

लाहिड़ी महाशय और वैष्णवदास बाबाजी आगे बढ़कर देखने लगे। देखा कि—बहुत से वैष्णव लोग बाबाजीकी प्रदक्षिण कर रहे हैं और हरिध्वनि दे रहे हैं ये लोग भी वहीं उपस्थित हुए। सभी लोग परमहंस बाबाजी महाराजको दण्डवत्-प्रणाम कर मण्डपके ऊपर बैठ गए। देवीदास और शंभुनाथ भी मण्डपके एक तरफ 'हंस मध्ये बको यथा' की तरह बैठ रहे।

इतने में ही एक वैष्णव बोल उठे,—'हमलोग कण्टक नगरसे आरहे हैं। श्रीनवद्वीप—मायापुरके दर्शन और परमहंस बाबाजी महाराजकी चरण-रजको ग्रहण करना ही हमारा मुख्य अभिप्राय है।'

परमहंस बाबाजी महाराज लज्जित होकर बोले,—'मैं अत्यन्त पामर हूँ, मुझे पवित्र करनेके लिये आप-लोगोंका आगमन हुआ है।'

थोड़ी देरमें ही यह प्रकट हो गया कि वे सभी हरि-गुणगानमें प्रवीण हैं। झट मृदंग और करताल मँगाया गया। उनमें से एक बूढ़े व्यक्तिने प्रार्थनाका एक मधुर पद गाया। फिर उस पदके समाप्त होते ही लाहिड़ी महाशयका एक पदभी उन्होंने ही गाया। अत्यन्त सरस और मधुर पद था। उसका अन्तिम पद यह था—कालिदास कहे मम अंतरमें, जाग उठें श्रीराधाश्याम ॥' इस पदको सबलोग मिलकर गाते गाते उन्मत्त हो

उठे। अन्तमें 'जाग उठें श्रीराधाश्याम'—इस अंशको बारबार दुहराते हुए उद्दण्ड नृत्य होने लगा। नाचते-नाचते कितने ही भावुक वैष्णव अचेतन हो पड़े। उस समय एक अपूर्व दृश्य उपस्थित हुआ, उसे देखकर देवीदास मनही मन विचार करने लगे कि पिताजी इस समय परमार्थमें मग्न हो गए हैं, उन्हें घर लौटा ले जाना कठिन होगा। प्रायः आधी रातको सभा भंग हुई। सभी लोग परस्पर दण्डवत् प्रणाम कर अपने-अपने घर चले गए। देवीदास और शम्भूनाथ पिताजीकी आज्ञा लेकर अपने वास-स्थानको लौट आये।

दूसरे दिन फिर भोजन करनेके उपरान्त देवी और शम्भू, लाहिड़ी महाशयकी कुटियाँपर पहुँचे।

लाहिड़ी महाशयको प्रणाम कर देवीदासने कहा,-'पिताजी! आपसे एक प्रार्थना है। अब आप शान्तिपुरवाले मकानमें ही रहा करें। घरमें हमलोग आपकी सेवाकर सुखी होंगे। आज्ञा हो तो, एक निर्जन खण्ड भी आपके लिए प्रस्तुत कर दिया जाये।

लाहिड़ी महाशय ने उत्तर दिया,-'बात तो अच्छी है। परन्तु इस जगह जैसे सर्वदा ही सत्संगमें हूँ, शान्तिपुरमें वैसा न हो सकेगा। देवी! तुम तो जानते हो, शान्तिपुरके लोग कितने निरीश्वर और निन्दा-प्रिय हैं। वहाँ मनुष्यके वास करनेमें सुख नहीं है अनेक ब्राह्मण हैं सही, लेकिन ताँतिओंके संसर्गसे उनकी भी बुद्धि मारी गयी है। पतले कपड़े, लम्बी-लम्बी बातें और वैष्णव निन्दा—शान्तिपुरवालोंके ये तीन लक्षण हैं। प्रभु अद्वैतके वंशधर वहाँ कितने कष्टसे हैं। कुसंगके कारण वे भी प्रायः महाप्रभुके विरोधी हो गये हैं अतएव तुम लोग मुझे इस गोद्रुम में ही यत्न पूर्वक रहने दो। यही मेरी इच्छा है'

देवीदासने कहा,—'पिताजी! आपका कहना बिलकुल ठीक है। किन्तु, आप शान्तिपुर निवासिओंके साथ किसी तरहका व्यवहार करने जाँयगे ही क्यों? निर्जन स्थानमें अपने धर्मका आचरण करते हुए संध्या-वंदना आदि कर दिन बिताइयेगा। ब्राह्मण का नित्य कर्मही नित्य धर्म है। उसीमें मग्न रहना आप जैसे महात्माका कर्त्तव्य है।'

लाहिड़ी महाशयने कुछ गंभीर होकर कहा,—'बेटा! अब वे दिन नहीं रहे। कई महीने साधुसंग कर और श्रीगुरुदेवके उपदेशोंको श्रवण कर मेरा विचार बहुत कुछ परिवर्तित हो गया है। तुमलोग जिसे नित्यधर्म कहते हो, मैं उसे नैमित्तिकधर्म कहता हूँ। हरिभक्ति ही जीवका एक मात्र नित्यधर्म है। संध्यावदना आदि यथार्थतः नैमित्तिक धर्म हैं।

देवीदासने कहा,—'पिताजी! मैंने किसी भी शास्त्रमें ऐसा नहीं देखा है। संध्यावदना आदि क्या हरिभजन नहीं हैं? यदि हरिभजन हैं, तो वे भी नित्यधर्म हुए। संध्यावन्दना आदिके साथ क्या श्रवण कीर्तन आदि वैधी-भक्तिका कोई भेद है?'

लाहिड़ी महाशयने कहा, बेटा! कर्मकाण्डके संध्यावन्दना आदि और वैधी-भक्तिमें विशेष पार्थक्य है। कर्मकाण्डमें संध्यावन्दना आदि मुक्ति लाभ करने के लिये अनुष्ठित होते हैं। किन्तु हरिभजनके श्रवण और कीर्त्तनादिका कोई हेतु नहीं होता। फिर जो श्रवण और कीर्त्तन आदि वैध-भक्तिके अंगोंका फल देखते हो, वे सब केवल बहिर्मुख लोगोंकी उनमें रुचि उत्पन्न करानेके लिये है। हरिभजनका हरिसेवाके अतिरिक्त और कोई फल नहीं है। हरिभजनमें प्रेम उत्पन्न कराना ही वैध अंगोंका मुख्य फल है।'

देवीदासने कहा,—'तब तो हरिभजनके अंगोंका गौण फल भी होता है—मानना होगा?'

लाहिड़ी—'साधकोंके भेदके अनुसार गौण फल होते हैं। वैष्णवोंकी साधन-भक्ति केवल सिद्ध-भक्तिको उदय करानेके लिये है। अवैष्णव भी उन्हीं अंगोंका पालन करते हैं, किन्तु उनके पालन करनेमें दो प्रधान उद्देश्य रहते हैं—भोग और मोक्ष। साधन क्रियाके आकारमें कोई भेद नहीं देखा जाता—भेद है साधकों की निष्ठामें। कर्माङ्गमें कृष्ण-पूजा द्वारा चित्त-शोधन और मुक्ति अथवा रोग शान्ति या पार्थिव फल पाया जाता है। भक्तिके अंगरूप में वही कृष्ण-पूजा केवल

कृष्णनाममें प्रेम उत्पन्न कराती है। कर्मियोंके एकादशी व्रतसे पाप नष्ट होते हैं और भक्तोंकी एकादशी-व्रतसे हरिभक्ति बढ़ती है। देखो, कितना आसमान जमीनका अन्तर है। कर्माङ्ग और भक्ति-अंगोंमें जो सूक्ष्म भेद है, वह भगवत् कृपासे ही जाना जा सकता है। कर्मी लोग गौण फलोंमें आबद्ध रहते हैं, किन्तु भक्त मुख्य फल लाभ करते हैं। जितने प्रकारके गौण फल हैं, वे सब मिलाकर दो भागों में विभक्त किये गए हैं—भुक्ति और मुक्ति।'

देवीदास—'फिर शास्त्रोंमें गौण फलका महात्म्य ही क्यों वर्णन किया गया है?'

लाहिड़ी—'जगत्में दो प्रकारके लोग हैं अर्थात् उदित-विवेक और अनुदित-विवेक। अनुदित-विवेक व्यक्ति कोई उपस्थित फल न देखकर कोई भी सत् कर्म नहीं करते। उनके लिए गौण फलोंका माहात्म्य वर्णन किया गया है। शास्त्रका यह तात्पर्य नहीं है कि वे गौण फलों से सन्तुष्ट रहें। शास्त्रका तात्पर्य यह है कि गौण फलोंको देखकर आकृष्ट होने पर थोड़े ही समय में साधुओंकी कृपासे मुख्य फलोंका परिचय और उसमें रुचि हो सके।'

देवीदास—'स्मार्त रघुनन्दन आदि क्या अनुदित विवेकवाले व्यक्तियोंमें हैं?'

लाहिड़ी—'नहीं वे स्वयं मुख्य फलकी खोज करते हैं, केवल अनुदित-विवेक वालोंके लिए उन्होंने व्यवस्था मात्र करदी है।'

देवीदास—'किसी-किसी शास्त्रमें केवल गौण-फलोंकी बातें ही देखी जाती हैं, मुख्य फलका उनमें कुछ भी उल्लेख नहीं है—इसका क्या कारण है?'

लाहिड़ी—'मनुष्योंके विविध अधिकार-भेदसे शास्त्र भी तीन प्रकारके हैं—सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। सत्त्वगुणविशिष्ट मनुष्यके लिये—सात्त्विक शास्त्र हैं, रजोगुणविशिष्ट मनुष्यके लिये—राजसिक शास्त्र हैं तथा तमोगुणविशिष्ट मनुष्योंके लिये तामसिक शास्त्र हैं।'

देवीदास—'ऐसा होनेसे शास्त्रकी किस बात पर विश्वास किया जाय। और किस उपाय द्वारा निम्न अधिकारियोंकी उच्चगति प्राप्त हो सकती है?'

लाहिड़ी—मनुष्योंके अधिकारमें भेदके अनुरूप उनके स्वभाव और श्रद्धामें भी भेद होता है। तामसिक मनुष्योंकी—तामसिक शास्त्रोंमें, राजसिक मनुष्योंकी—राजसिक शास्त्रोंमें तथा सात्त्विक मनुष्योंकी—सात्त्विक शास्त्रोंमें स्वाभाविक श्रद्धा होती है। श्रद्धाके अनुसार ही उनका विश्वास भी होता है। श्रद्धाके साथ अपने अधिकार जैसा कर्म करते-करते साधुसंगके बलसे उच्च अधिकार जन्मता है। उच्च अधिकारके जन्मते ही उसका स्वभाव पुनः उच्च हो जाता है। और तद्नुरूप शास्त्रमें उसकी श्रद्धा होती है। शास्त्रकार लोग अभ्रान्त पण्डित थे। उन्होंने शास्त्रोंकी रचना इस प्रकार की हैं कि अपने अधिकार-निष्ठासे ही धीरे-धीरे उच्च अधिकार स्वयं उत्पन्न हो जाय। इसीलिए अलग-अलग शास्त्रोंमें अलग-अलग व्यवस्था दी गयी है। शास्त्रीय श्रद्धाही समस्त मङ्गलोंकी जड़ है। श्रीमद्भागवतगीता समस्त शास्त्रोंका मीमांसा-शास्त्र है। उनमें यह सिद्धान्त सुस्पष्ट है।'

देवीदास—'मैंने बचपनसे अनेक शास्त्रोंका अध्ययन किया है, किन्तु आज आपकी कृपासे मुझे एक अपूर्व तत्त्वकी उपलब्धी हुई।'

लाहिड़ी—'श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

अणुभ्यश्च बृहद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः।
सर्वतः सारमादद्यात् पुष्पेभ्य इव षट्पदः॥
(श्रीमद्भा० ११।८।१०)

बेटा! मैं तुम्हें नास्तिक कहा करता था। अब मैं किसीकी निन्दा नहीं करता। क्योंकि प्रत्येक व्यक्तिको अपने अधिकारके अनुसार निष्ठा होती है। इसमें निन्दाकी कोई बात नहीं। सभी अपने-अपने अधिकारों के अनुसार कार्य कर रहे हैं। समय आने पर धीरे-धीरे उन्नत होंगे। तुम तर्कशास्त्र और कर्म शास्त्रके पण्डित हो। इसलिये अधिकारके अनुसार बातोंके लिये तुम्हारा कोई दोष नहीं।'

देवीदास—'जहाँ तक जानता था, मेरा विश्वास था कि वैष्णव सम्प्रदायमें पण्डित नहीं हैं । वैष्णव लोग केवल शास्त्रका एक अंशमात्र देखकर उसी बात पर हठ किया करते हैं । आज आपने जो कुछ कहा है, उससे मेरी वह धारणा बिलकुल दूर हो गयी और अब मुझे विश्वास होता है कि वैष्णवोंमें सारग्राही लोग भी हैं । क्या आप आजकल किसी महात्माके पास शास्त्र अध्ययन कर रहे हैं ?'

लाहिड़ी—'बेटा ! आजकल मुझे कट्टर वैष्णव कहो अथवा जो इच्छा कहो । मेरे गुरुदेव इसी दूसरी झोपड़ीमें भजन करते हैं । उन्होंने समस्त शास्त्रोंका निचोड़ जो मुझे बतलाया है, वही मैंने तुमसे कहा है । तुम यदि उनके चरणोंमें कुछ शिक्षा प्राप्त करना चाहो तो, भक्ति भावसे उनके निकट जाकर जिज्ञासा कर सकते हो । चलो, मैं तुम्हारा उनसे परिचय करा दूँ ।' यह कहकर लाहिड़ी महाशयने देवीदास विद्यारत्नको श्रीवैष्णवदासजीकी कुटियामें ले जाकर परिचय करा दिया । और देवीदासजीको वहीं बाबाजी के पास छोड़ कर अपनी कुटीमें लौटकर हरिनाम करने लगे ।

वैष्णवदास—'बेटा ! तुम्हारी पढ़ाई-लिखाई कितनी हुई है ?'

देवीदास—'न्यायशास्त्रके 'मुक्तिपाद' और 'सिद्धान्तकुसुमांजलि' तक पढ़ा है । स्मृति शास्त्रके सभी ग्रन्थ पढ़े हैं ।'

वैष्णवदास—'तो तुमने शास्त्रमें बहुत ही परिश्रम किया है । उसके फलका कुछ परिचय दो ?'

देवीदास—'अत्यन्त-दुःख-निवृत्तिरेव मुक्तिः' (सांख्य १।३ और ६।५ के अवलम्बन पर)—इसी मुक्तिके लिए सर्वदा चेष्टा करना उचित है । मैं अपने धर्मकी निष्ठाके साथ इसी मुक्तिकी खोज करता हूँ '

वैष्णवदास—'हाँ, मैं भी किसी समय उन ग्रन्थों को पढ़कर तुम्हारी ही तरह मुक्तिकी कामना करता था ।'

देवीदास—'क्या अब आपने मुक्तिकी कामना छोड़ दी है ?'

वैष्णवदास—'बेटा ! बोलो तो, मुक्ति किसे कहते हैं ?'

देवीदास—'न्याय शास्त्रके अनुसार जीव और ब्रह्ममें नित्य भेद है । इसलिये न्यायके मतमें—आत्यन्तिकी दुःखकी निवृत्ति' कैसे होतीहै—स्पष्ट नहीं है । वेदान्तके मतसे अभेद ब्रह्मके अनुसंधानको अर्थात् जीविका ब्रह्मके साथ एकीभाव प्राप्त होनेको 'मुक्ति' कहते हैं—यही एक प्रकारसे स्पष्ट मालूम होता है ।'

वैष्णवदास—'बेटा, मैं पन्द्रह वर्षों तक शंकर सम्प्रदायके वेदान्त ग्रन्थोंको पढ़कर सालों तक संन्यासी रहा । मुक्तिके लिए बहुतसे प्रयत्न किये । शंकरमतके चारों महावाक्योंका अवलम्बन कर बहुत दिनोंतक निदिध्यासन भी करता रहा । बादमें उस पथको अर्वाचीन समझकर परित्याग कर दिया ।'

देवीदास—'आपने उसे अर्वाचीन कैसे समझा ?'

वैष्णवदास—'अनुभवी पुरुष अपनी परीक्षा दूसरोंको सहजही में समझा नहीं सकते । दूसरे ही उसे कैसे समझ सकते हैं ?'

देवीदासने देखा कि, वैष्णवदास महापण्डित, सरल और महाविज्ञ हैं । देवीदास वेदान्त नहीं पढ़े हैं । वे मन-ही-मन सोचने लगे कि यदि ये कृपा करें तो मेरा वेदान्तका अध्ययन हो सकता है । ऐसा सोचकर बोले—'क्या मैं वेदान्त पढ़नेके योग्य हूँ ?'

वैष्णवदास—'संस्कृत भाषामें जैसा तुम्हारा अधिकार है, उससे तुम शिक्षक पानेसे अनायास ही वेदान्त पढ़ सकते हो ।'

देवीदास—'आप यदि कृपाकर पढ़ावे तो मैं पढ़ूँ ।'

वैष्णवदास—'एक बात है, मैं अकिंचन वैष्णवदास हूँ । परमहंस बाबाजीने मुझे कृपाकर हरिनाम करने के लिये कहा है । वही किया करता हूँ । समय थोड़ा है । खासकर 'जगद्गुरु श्रीरूप गोस्वामीने वैष्णवोंको (शंकरके) शारीरक भाष्य पढ़ने या सुननेका निषेध किया है'—जानकर मैं शंकर-भाष्य पढ़ता भी नहीं और पढ़ाता भी नहीं, फिर भी जीव-

लोकके आदि गुरु श्रीशचीनन्दनने श्रीसार्वभौमको जो वेदान्त सूत्रका भाष्य सुनाया था--वह अब भी अनेक वैष्णवोंके पास हस्तलिखित पुस्तकके आकारमें वर्त्तमान है। उसे तुम अगर पढ़ना चाहो तो उसकी नकल कर ले आवो, मैं तुम्हारी सहायता कर सकता हूँ। तुम कांचनपल्लीके निवासी श्रीमद् कवि कर्णपूर के घरसे उक्त हस्तलिखित पुस्तक मँगवा सकते हो।'

देवीदास—'मैं कोशिश करूँगा। आप वेदान्तके महापण्डित हैं। आप मुझे सरलतापूर्वक सचसच बतलावें कि वैष्णवभाष्य पढ़कर वेदान्तका यथार्थ अर्थ पा सकूँगा या नहीं?'

वैष्णवदास—'मैंने शंकर भाष्य पढ़ा है और पढ़ाया है। श्रीभाष्य आदि कई भाष्य पढ़े हैं। किन्तु गोपीनाथ आचार्य द्वारा दी हुई 'महाप्रभुकी सूत्रार्थ व्याख्या--जिसे गौड़ीय वैष्णव लोग पढ़ा करते है, की अपेक्षा मैंने और श्रेष्ठ कुछ भी नहीं देखा है। भगवत्कृत सूत्रार्थमें कोई मतवाद नहीं है। उपनिषदके वचनोंसे जिन सब अर्थोंका संग्रह किया जा सकता है, वे सब यथायथ उस सूत्रकी व्याख्यामें पाये जाते हैं। इस सूत्र व्याख्याको यदि कोई ठीक रीतिसे ग्रन्थन करे, तो उसके सामने कोई भी अन्य भाष्य विद्वानोंकी सभामें आदर न पा सकेगा।'

यह सुनकर देवीदास विद्यारत्न बड़े प्रसन्न हुए और श्रद्धाके साथ श्रीवैष्णवदास बाबाजीको प्रणामकर अपने पिताजीकी कुटीमें लौटकर उनके चरणोंमें सारी बातें निवेदन करदीं।

(क्रमशः)

—ॐविष्णुपाद श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर

शरणागति

आत्मनिवेदन—ममतास्पद देहसमर्पण (वाचिक)

[ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर]

वास्तव में सब तेरा है नहीं जीव किसी निश्चय में।
अहं और मम के भ्रम भ्रमता भोग-शोक औ भय में॥
अहं तथा मम अभिमान यही मात्र है धन।
बद्ध जीव इन दो ही को समझे अपना मन ही मन॥
रहा उसी अभिमान चढ़ा मैं संसारी हो अड़ के।
डुबकी पै डुबकी खाता हूँ भव-सागर में पड़के॥
नाथ, तुम्हारे अभय चरण में शरण आज मैं धरता।
होकर दीन प्रभो यह सेवक आत्मनिवेदन करता॥
अहं तथा मम अभिमान छोड़ मुझे अब दोनों जावें।
अब मेरे मन में हे स्वामी जगह नहीं ये पावें॥
प्रभो, यही विनती है अपनी ऐसा बल हम पावें।
जिससे अहं और ममता को मन से दूर भगावें॥
दृढ़ हो करके आत्मनिवेदन भाव हृदय में आवे।
हाथी के स्नान-सरिस वह क्षणिक न होने पावे॥
जिससे भक्तिविनोद प्रभो इस नित आनन्द को पावे।
माँग रहा परसाद यही अभिमान सदा को जावे॥

वर्ष-निवेदन

देखते ही-देखते करुणावरुणालय स्वयं भगवान् श्रीकृष्णकी असीम अनुकम्पासे परम भागवतोंके प्राण-प्रिय श्रीमद्भागवताभिन्न श्रीभागवत-पत्रिकाका प्रथम वर्ष आज पूर्ण हो गया। जो लोग श्रीभागवत-पत्रिका का पाठ करते हैं, जो श्रवण करते हैं, लेख और कविताएँ देते हैं, जो इनका सम्पादन करते हैं, प्रकाशन करते हैं, प्रचार करते हैं, अथवा जो लोग अर्थादिके द्वारा इनकी विभिन्न सेवाएँ करते हैं, वे सभी श्रीपत्रिकाके सेवक हैं। हम उन्हें परम सौभाग्यवान समझ कर अपनी आन्तरिक श्रद्धा निवेदन करते हैं।

किसी ग्रन्थका अध्ययनकर उसकी वाणियोंको हृदयसे पालन करना ही उस ग्रन्थकी यथार्थ पूजा है। श्रीभागवत-पत्रिकामें प्रकाशित तथ्योंको हृदयङ्गमकर जो उन्हें अपने जीवनमें प्रतिफलित करते हैं अथवा उसके लिए चेष्टा करते हैं—वे लोग धन्य है।

श्रीमद्भागवत साक्षात् व्रजेन्द्रनन्दनका स्वरूप है। यह निगम कल्पतरुका स्वयं गलित वह फल है, जिसे वेदव्यासने अपनी समाधिमें पाया था, जिसे श्रीशुकदेवजीने अपनी मधुर वाणीसे संयुक्तकर अमृतमय बना डाला। अखिल रसामृतमूर्त्ति भगवान्के मधुरतम प्रेम-रसका छलकता हुआ अनन्त सागर है—यह श्रीमद्भागवत। जगत्में जितने शास्त्र हैं, उनमें श्रीमद्भागवत ही सर्वशास्त्र शिरोमणि, ग्रन्थराज अथवा ग्रन्थ-चक्रवर्ती है—यह कहना पुनरुक्तिमात्र है। यह अखिल श्रुतिसार, अध्यात्मदीप और पुराणोंका अर्कस्वरूप है। इसकी कहीं भी तुलना नहीं है। भाषा इतनी ललित है, भाव इतने कोमल और कमनीय हैं, वर्णनशैली इतनी सरस और हृदयस्पर्शी है और अभिव्यक्तियाँ इतनी स्पष्टतम हैं कि कर्म और ज्ञानके प्रचण्ड तापसे झुलसे हुए मरुतुल्य हृदय-क्षेत्र में भी यह भक्तिकी अमृतमय सरिता बहानेमें समर्थ होता है। श्रीभागवत-पत्रिका इन्हीं श्रीमद्भागवतकी अभिन्न मूर्त्ति-स्वरूप आधुनिक कालमें प्रकटित हुई हैं।

श्रीमद्भागवतमें अध्यात्म तत्त्वका विवेचन बड़ी ही साफ-सुथरी भाषामें किया गया है। भगवान्ने अपने तत्त्वका परिचय इस तरह दिया है—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम॥
(श्रीमद्भा० २।९।३२)

अर्थात् सृष्टिके पहले केवल मैं ही था, उस समय सत् अथवा असत् कुछ भी न था; सृष्टि होने पर भी मैं वर्त्तमान हूँ तथा सृष्टिके लय होनेपर भी मैं बच रहूँगा। वह तत्त्व क्या है?—

वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥
(श्रीमद्भा० १।२।११)

वह तत्त्व एक है। उसी तत्त्वको कोई ब्रह्म कहते हैं, कोई परमात्मा कहते हैं और कोई भगवान् कहते हैं। किन्तु व्यासदेवका निजी अभिमत क्या है—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे॥
(श्रीमद्भा० १।३।२८)

इसका आशय यह है कि उस तत्त्वके पूर्णतम विकाशका नाम भगवान् है और वे स्वयं भगवान्—कृष्ण हैं ब्रह्म-इसी श्रीकृष्णके अङ्गकी छटा हैं। अर्थात् भगवान्के खण्ड चिद्अंशके असम्यक प्रकाशको ब्रह्म कहते हैं। और भगवानके सत्अंशके आंशिक प्रकाशका नाम परमात्मा है। कृष्णमें सत्, चिद् और आनन्दका पूर्णतम् विकास होनेके उन्हें सच्चिदानंद कहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण अपनी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे एक होते हुए भी उपासकोंके तारतम्यहेतु इन तीनों रूपोंमें प्रकाशित होते हैं। अब साधनके सम्बन्धमें भी इनका विचार कितना स्पष्ट है, देखिए—

'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः' (श्रीमद्भा० ११।१४।२१)

अर्थात् 'श्रद्धासे युक्त एकमात्र अनन्य भक्ति द्वारा ही मैं पाया जाता हूँ।' किन्तु ज्ञानकी व्यासदेवने निन्दाकी है। ज्ञानकी हीनता दिखलाते हुए उन्होंने एक बड़ी ही सुंदर उपमाकी अवतारणाकी है—भक्तिसे विरहित ज्ञानका अभ्यास भूसा कूटनेके समान है। धानको कूटकर चावल निकाला जाता है, किन्तु पुआलको कूटकर क्या चावलका एक दाना भी पाया जाता है?—

'श्रेयःश्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो,
क्लिश्यन्ति ये केवल-बोध-लब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते,
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥'
(श्रीमद्भा० १०।१४।४)

ज्ञान और कर्मकी बात कौन कहे, निर्मल ज्ञान तथा नैष्कर्म्य तककी भी इन्होंने उपेक्षाकी है—

नैष्कर्म्यमप्युच्युतभाव वर्जितं,
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
(श्रीमद्भा०)

आशय यह है कि निर्मल ज्ञान और निष्काम कर्म भी भगवान्‌की भक्तिसे रहित होनेपर नितांत उपेक्षणीय होते हैं। फिर भक्तिकी उत्कर्षता प्रतिपादन करते हैं—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ॥
(श्रीमद्भा० १।७।१०)

अर्थात् अखिल रसामृतमूर्त्ति भगवान् कृष्णकी सौन्दर्य माधुरीसे प्रलुब्ध होकर वे मुनिजन—जो आत्मामें सदा रमण करते हैं तथा जिनकी सभी सांसारिक ग्रन्थियाँ खुल गयीं हैं—अपने ब्रह्मानन्दको धिक्कार देते हुए भगवान्‌के चरण-कमलोंमें अहैतुकी भक्ति किया करते हैं। अतः दूसरे लोगोंकी बात ही कौन कहे। श्रीमद्भागवतके इन वास्तव सत्य और स्वयंसिद्ध सिद्धान्तोंका विश्वके कोने-कोनेमें प्रचार करनेके लिए ही श्रीमद्भागवतकी विलासमूर्त्ति श्रीभागवत-पत्रिका आविर्भाव हुआ है।

श्रीपत्रिका किसीकी खुशामद करने वाली अथवा मनोरंजनकी सामग्री नहीं है। सत्य जितना भी अप्रिय क्यों न हो, उसका प्रचार करना ही श्रीपत्रिका का आदर्श है। हम किसीसे अर्थ या धन सम्पत्तिकी आशा नहीं करते। समाज यदि हमारे प्रचारसे सन्तुष्ट न हो सके तो—न हो; हमारी प्रशंसा न करना चाहे, न करे तथापि हम सत्यका गला न घोटेंगे और न घोटेंगे। सत्य-पिपासुओंके निकट सत्यका सर्वदा ही आदर होता है—यह हमारा दृढ़ विश्वास है। आजकल कालके प्रभावसे सत्यका आदर सर्वतोभावेन परिलक्षित न होनेपर भी ऐसे लोगोंका पूर्णतया अभाव नहीं जो अब भी सत्यका आदर करते हैं। साधारणतः जगत्‌में धर्मके नामपर जो बातें बिक रहीं हैं,वे धर्म जैसा प्रतीत होनेपर भी वस्तुतः धर्म नहीं है। श्रीमद्भागवतमें—'धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमोनिर्म्मत्सरानां' द्वारा अर्थ, धर्म, काम और मोक्षसे रहित निर्मत्सर साधुओंके सर्वश्रेष्ठ धर्मका अर्थात् विशुद्ध भक्तिका उत्कर्ष निरूपण किया गया है। उसी तरह इस श्रीपत्रिकामें भी विशुद्ध भक्तिका ही प्रतिपादन है। इसमें मिश्रधर्मोंको अथवा छल धर्मोंका स्थान नहीं। प्रसंगवशतः कहीं कहीं पर तारतम्यमूलक विचार स्वाभाविकरूपसे आ पड़े हैं। पाठकवर्गसे अनुरोध है, वे उन लेखोंको सावधानीसे पढ़ेंगे। किसीके दिलको दुखाना पत्रिकाका उद्देश्य नहीं। शास्त्र भी कहते हैं—'सन्तएवास्य छिन्दन्ति मनोव्यासंगमुक्तिभिः'।

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति विश्ववासी सभीको श्रीमन्महाप्रभुकी आदर्श शिक्षाका अनुसरण करनेके लिए अनुरोध करती है। श्रीमन्महाप्रभुका कथन है—'तृणकी अपेक्षा दीन-हीन और वृक्षकी अपेक्षा अधिक सहिष्णु होकर हरिसंकीर्त्तन करना होता है।' इसीसे जगत्‌की सभी जटिल समस्याओंका समाधान हो सकेगा। क्या धार्मिक, क्या राजनैतिक, क्या आर्थिक और क्या सामाजिक—सभी संकटोंका इसीसे समाधान किया जा सकता है। किसी भी देशकी कोई भी राजनैतिक संस्था, कोई भी समाज धर्मको अलग

रखकर—धर्मकी उपेक्षा कर न तो टिक सका है और न टिक सकता है। हमारे एक राष्ट्र नायकका कहना है—'समस्त पुरानी चिजोंको हमें बदल देना है। हम ५००० वर्ष पुरानी दुनियाँमें रहना पसन्द नहीं करते।' मैं तो देखता हूँ कि सभी तो पुरानी ही पुरानी चीजें हैं। भाई! हम जिस पृथ्वी पर रहते हैं वह पुरानी है—उसे बदल दें, सूर्य, चन्द्र, तारे और आकाश भी पुराने हैं—इसे भी परिवर्त्तन कर दें, मनुष्य जाति भी सृष्टिके प्रारंभसे ही चली आरही है—उसे अब नया रूप दे दें, हम पैरोंके सहारे बहुत दिनों से चलते आरहे हैं—अब सिरसे चलें। कि केवल हमारी पुरानी संस्कृतियोंको ही उखाड़ फेंकनेका प्रयत्न हो रहा है जिस पर न केवल भारतका अपितु समग्र विश्वका अधोपतन अनिवार्य है। विश्वकी सभी जातियाँ भारतीय सनातनधर्म, भारतीय दर्शन और भारतीय संस्कृतियोंको बड़े गौरवकी आँखोंसे देखती हैं। ये जिस दिन नष्ट हो जाएँगी—भारत रसातलको चला जायगा। हाँ, इनमें कालके प्रभावसे कोई दोष आगए हों तो उनका संस्कार करना आवश्यक है, किंतु उनके मौलिक-तत्त्वों पर कुठाराघात करना उचित नहीं।

आजकल समग्र विश्वमें श्रीचैतन्यमहाप्रभुके विचारोंका आदर बढ़ रहा है। यत्र-तत्र-सर्वत्र उनके भक्तिसे सने हुए दार्शनिक विचारोंका प्रभाव है। सच पूछिये तो कलिहत जीवोंके लिए श्रीमन्महाप्रभु द्वारा आचरित और प्रचारित धर्मके समान कोई भी इतना सुगम और परमार्थ-प्रद पथ नहीं। ऐसी स्थिति में इस धर्मकी व्यापक लोकप्रियता लक्ष्यकर कतिपय स्वार्थान्धव्यक्ति ईर्ष्या करने लगे हैं। वे लोग परम उदात्त साम्प्रदायिक भावनाओंको अपने स्वार्थरूपी संकीर्णताके ढाँचेमें ढालकर श्रीमन्महाप्रभु और उनके विचारोंको हेय प्रतिपन्न करनेके लिए तरह-तरह की बेतुकी तथ्योंका प्रचार करते हैं—जिनका न तो कोई ऐतिहासिक आधार है, और न कोई शास्त्रीय प्रमाण। उदाहरणके लिए किसी एक लेखकने प्राचीन ऐतिहासिक और शास्त्रीय प्रमाणोंकी उपेक्षा कर श्रीचैतन्यमहाप्रभुको केशव काश्मीरीजीका शिष्य बतलाया है। हाल ही में प्रकाशित एक पत्रिकामें एक दूसरे ग्राम्य लेखकने श्रीचैतन्य महाप्रभुको श्रीवल्लभाचार्यसे हीन प्रमाणित करने की निराधार चेष्टा की है। क्या श्रीचैतन्यमहाप्रभुको बिना नीचा दिखलाए निम्बार्क-सम्प्रदायकी अथवा श्रीवल्लभाचार्यकी महत्ता नहीं दिखलायी जा सकती थी? मालूम पड़ता है उक्त अज्ञ लेखकको साधारण इतिहासका भी ज्ञान नहीं। उन्होंने यहाँ तक लिख मारा है कि श्रीचैतन्यदेव वल्लभाचार्य के दर्शनोंके लिए अपने तीनों शिष्य—रूप, सनातन और जीवके साथ वृन्दावनके वंशीवटमें स्थित वल्लभाचार्यके स्थान पर गये। और वहाँ पर श्रीवल्लभाचार्यने श्रीचैतन्यदेव के विचारोंमें जो कुछ कमी थी उसको बतलाया था। इसमें विचार करनेकी बात है कि जिस समय श्रीचैतन्यमहाप्रभुजी वृन्दावन पधारे थे, उस समय वहाँ श्रीरूपगोस्वामी, सनातन गोस्वामी, जीवगोस्वामी अथवा श्रीवल्लभाचार्य—इन में से कोई भी उपस्थित न थे। बल्कि महाप्रभुजी के वृन्दावनसे लौटते समय प्रयागमें श्रीवल्लभाचार्यने रूप और अनुपमके साथ उन्हें निमंत्रण कर प्रयागके उस पार अपने अड़ाइल ग्राममें ले जाकर खूब श्रद्धाके साथ सेवाकी थी। वल्लभाचार्य श्रीचैतन्यमहाप्रभुको स्वयं भगवान् मानते थे। यहाँ तक कि वे एक बार जगन्नाथपुरी जाकर उनका दर्शन भी कर आये थे। तथा बहुत सी तत्त्व सम्बन्धी बातें भी उनसे श्रवण किये थे। एक तीसरे अर्वाचीन लेखकने एक और भी आश्चर्यकी बात लिखी है। जिस चैतन्यमहाप्रभुने गोकुल, वृन्दावन, श्यामकुण्ड, राधाकुण्ड, नन्दगाँव, बर्षाना और काम्यवन आदिका पुनरुद्धार किया है उन्हींके सम्बन्धमें लेखकका कहना है कि चैतन्यदेव वृन्दावन कभी नहीं आये, वे मथुरा आदि स्थानोंको होकर अक्रूरघाटसे ही लौट गये थे। हम अगले वर्ष ऐतिहासिक और शास्त्रीय प्रमाणोंके आधारपर इन विषयोंका यथार्थ तथ्य प्रकाशित करेंगे।

अन्वय और व्यतिरेक भावसे भगवत्-प्रेमका प्रचार करना ही इस पत्रिकाका उद्देश्य है। प्रेमके अनुकूल

प्रेमी महापुरुषोंके रचित ग्रन्थ, फुटकर रचनाएँ तथा कविताएँ इसमें प्रकाशित होती हैं तथा प्रेमके प्रतिकूल असत् संग और इनके विचारोंकी असारता दिखलाकर सज्जन व्यक्तियोंको सावधान किया जाता है। साधकोंके लिए असत् संगको वर्ज्जन करना उतना ही आवश्यक है जितना सत्संगका ग्रहण करना।

हमें इस बातकी खुशी है कि इतने थोड़े समयमें भी लोगोंने श्रीभागवत-पत्रिकाको आशातीतरूपसे अपनाया है। कुछ माननीय व्यक्तियोंने भाषा और भावको सरल करनेके लिए लिखा है। हम इसके लिए प्रयत्न कर रहे हैं और भविष्यमें और भी अधिक करेंगे। किन्तु गंभीर तत्त्वमूलक निबन्ध अथवा लेखों की भावधारा और भाषाको जितना भी सरल क्यों न किया जाय, साधारण लोगोंके निकट वे स्वभावतः कुछ कठिन प्रतीत होंगे ही। सहृदय पाठक हमें इसके लिये क्षमा करेंगे। इस वर्ष विशेष सावधान रहने पर भी जगह-जगह कुछ भूलें रह गयी हैं, पाठकगण कृपा कर उन्हें संशोधनकर पढ़ लेंगे।

अन्तमें हम सभीसे करबद्ध प्रार्थना करते हैं। सच्चे गुरु-वैष्णव-सेवकोंके आशीर्वादकी कामना करते हैं। वे सभी हमारे हृदय में बलका संचार करें जिससे हम असत्-संग परित्याग कर सत्संग लाभ करने में समर्थ हो सकें।

ततो दुःसङ्गमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान्।
सन्त एवास्य छिन्दन्ति मनोव्यासङ्गमुक्तिभिः॥

दरिद्र नारायणकी सेवा (?)

'हाँ, तो मेरा प्रश्न यह है कि आँखें मूँदकर मंदिरों में चुपचाप न बैठकर दीन-दुःखी, भूखे अथवा रोगी मनुष्योंकी सेवा करनेसे-अन्न-वस्त्र और औषध-पथ्य आदि द्वारा उन्हें सन्तुष्ट करनेसे भगवानकी सेवा होती है या नहीं?'—नरेन्द्रने पार्ककी हरी-हरी घासों के ऊपर बैठते हुए कहा। उस समय तक चन्द्र अपनी शीतल स्निग्ध चन्द्रिकाओंको निस्तब्ध पृथ्वीपर बिखेरने लग गया था। लोगोंका आना-जाना क्रमशः बन्द हो रहा था। वह कहता गया—'मेरे विचारसे दरिद्र नारायणकी सेवा ही श्रेष्ठ सेवा है। मंदिरोंका निर्माण बन्द रखकर अस्पतालोंके निर्माणसे ही श्रेष्ठतर सेवा हो सकती है।'

'शायद तुम श्रीव्यासदेव आदि अभ्रान्त शास्त्रकारों तथा भगवानके शाब्दिक अवतार श्रीमद्भागवत आदि पुराणों की अपेक्षा अर्वाचीन ग्राम्य कवियोंकी रचनाओंका महत्व अधिक देना चाहते हो—यही न?' देवेन्द्र भी हँसते-हँसते नरेन्द्रकी बगलमें बैठ गया। उसके गलेमें तुलसीकी माला और चौड़े ललाटपर दिव्य तिलकको चन्द्र अपनी ज्योत्सनाकी झीनी चादर से ढक दिया था, जिसके भीतर से उसके मुख-मण्डल की सात्त्विक आभा झाँक रही थी। उसकी बात थमी नहीं,--'निरपेक्ष होकर विचार करनेसे विषयकी सत्यता उपलब्धि होती है। मन्दिरमें भगवत् विग्रह क्या वस्तु हैं, भगवान्की सेवा क्या चीज है—इन विषयोंको जो नहीं समझता, वही ऐसे अपराधयुक्त विचारोंको प्रकाश कर सकता है और उसे ही ठीक मानकर प्रचार करता है। तनिक विचारोंकी गहराई में प्रवेश करना सीखो। जिनका हृदय रजोगुण और तमोगुणसे ढका हुआ है, और जिनमें सत्वगुणका लेश भी नहीं है ऐसे तामसिक कर्मीलोग भक्तिका माहात्म्य उपलब्धि नहीं कर पाते हैं। ये लोग केवल अपने इन्द्रिय सुखोंकी कामनाओंको-भोगवाद को भगवद्भक्तिकी आड़में चलाना चाहते हैं।

'इन्द्रिय-सुख दो प्रकारका होता है—व्यक्तिगत और समाजगत। केवल एक व्यक्तिके सुखको व्यक्तिगत-सुख कहते हैं तथा सारे समाजके लोगोंके सुखको समाजगत-सुख कहते हैं। इन्द्रिय-सुखका अर्थ बाह्य-विषय सुखसे है, जिससे हमारी इन्द्रियोंको सुख मिलता है। तुम्हारा विचार सीधा समाजगत-इन्द्रिय-सुखसे है।

मैं समाजकी उपेक्षा करनेके लिए नहीं कहता। वरन् उसकी रक्षा करना हमारा कर्त्तव्य है। किन्तु हमारा समाज कैसा होना चाहिए, समाज संरक्षणका अर्थ क्या है, उसकी कैसे रक्षा की जाय—इन विषयोंकी अभीज्ञता न होने से कल्याण होनेके बदले अकल्याण ही लाभ होता है। पाश्चात्य देशोंकी नकलकर भारतीय समाजका गठन करनेका उद्देश्य भौतिक नश्वर सुखोंके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसके द्वारा पराशान्ति अर्थात् भगवद्भक्ति लाभ नहीं हो सकती।

'हमारे प्राचीन भारतीय ऋषियोंने जिसप्रकार समाज-संरक्षणकी व्यवस्था की है, उसका प्रधान लक्ष्य पराशान्ति है। उन्होंने केवल ऐहिक सुखके लिए समाज की व्यवस्था नहीं की है। परन्तु उन्होंने एक ऐसे समाज की व्यवस्था की है—उसके संरक्षणके नियम बनाए हैं जो समाज लोगोंको भगवद्भक्ति प्राप्त करनेमें सहायक हो—अनुकूल हो। किन्तु उस समाजमे जिसमें भगवद्भक्तिकी बातें नहीं, जिसमें केवल ऐहिक भोगोंकी बातें ही भरपूर हैं, जीवोंके मंगल और शान्तिकी आशा करना मरीचिकासे जलकी आशा करना है। क्योंकि भगवद्भक्तिके अतिरिक्त लौकिक अथवा पारलौकिक सभी वस्तुएँ नश्वर और अमङ्गलजनक हैं। आवश्यकतानुसार ग्रासाच्छादन (अन्न-वस्त्र) की समस्याको हल करते हुए शरीरकी रक्षा अवश्य करणीय है; किन्तु शरीर रक्षाका मूल उद्देश्य भगवान्की सेवा होनी उचित है।

'यहाँ तुम कह सकते हो—पहले शरीरकी रक्षा न होनेसे भगवानकी सेवा कैसे हो सकती है? हमारे देशके लोग भूखे हैं, दाने-दानेको तरसते हैं, पहननेको कपड़े नहीं, पढ़नेको शिक्षाकी उचित व्यवस्था नहीं, मरीजोंके लिए पर्याप्त अस्पताल नहीं, हमारे पास आधुनिक जगत्के साथ पैरों में पैर मिलाकर चलनेके लिए वैज्ञानिक प्रसाधन नहीं,—इस समय अपनेको बचाना ही हमारा प्रधान कर्तव्य है, इस समय मन्दिरोंमें भगवानकी सेवा बन्द रखनेकी आवश्यकता है। इसके उत्तरमें मैं तुमसे पूछता हूँ—मान लो, एक सती-साध्वी नारी है। वह सर्वदा तन, मन, धनसे अपने पतिदेवकी सेवा करती है। एक दिन जो कुछ संग्रह हुआ, उससे केवल एक आदमीका मुश्किलसे पेट भर सकता था। अब इस समय इनका क्या कर्त्तव्य है? क्या पत्नि यह कहेगी कि वह उनकी सेवा करती है, अतः पहले उसके ही (स्त्रीके) आहार-विहारकी आवश्यकता है। पहिले वह (स्त्री) भोजन कर लें और पतिदेव उस समय भूखे रहें। अथवा स्वयं उपवास रहकर अपने प्राणप्रिय पतिदेवको समस्त भोजन करायेंगी? भाई साहब, सेवा एक ऐसी मधुर और महनीय व्यापार है जिसमें भूख और प्यास अथवा कोई भी जागतिक अभाव बाधा नहीं डाल सकता है। सेवा आत्माकी वृत्ति है। इस वृत्तिके उन्मेष द्वारा ही सेवा करनेकी सामर्थ्य प्रकाशित होती है। नितांत दरिद्र व्यक्तिका भी सेवामें पूर्ण अधिकार है। गीताजीमें भगवान् कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
(गीता ९।२६)

'अतएव जिनके घरोंमें सेवाका कुछ भी उपकरण न हो, वे तुलसीके पत्तेके साथ एक अञ्जली जल भी श्रद्धापूर्वक भगवान्को अर्पण करें तो वे भगवदनुग्रह पा सकते हैं। दरिद्रता भक्तिके पालनमें बाधा उत्पन्न नहीं करती, उत्पन्न करता है अबोध मन।

'अपने इन्द्रियोंको चरितार्थ करनेके लिए मन्दिर में श्रीविग्रहकी सेवा बन्द करना नास्तिकताका चरम है। स्वयं भगवान् और हमारे ऋषियोंने दरिद्र और दुःखी व्यक्तियोंकी सहायता करनेके लिए विधान दिया है। 'दरिद्रान भर कौन्तेय' आदि वचन शास्त्रोंमें देखे जाते हैं। क्योंकि ऐसे कर्मोंसे चित्त क्रमशः उदार होता है। किन्तु 'भगवान्की सेवा और दरिद्रोंकी सेवा एक ही चीज हैं—हमारे शास्त्रोंमें कहीं नहीं कहा गया है। भगवान् अधोक्षज वस्तु हैं, वे अप्राकृत तत्त्व है—इन्द्रियोंसे परे है और दरिद्र व्यक्ति—जड़ मायाके गुणोंके अधीन एक बद्ध जीव है। भगवान् मायाधीश हैं और दरिद्र--मायाबद्ध

रजस्तमोगुणका प्रकाश है। अतः दोनोंको किस विचार से एक किया जा सकता है? नारायण—लक्ष्मीके पति हैं, वे अनन्त ऐश्वर्यके मालिक हैं। उन्हें अन्न और वस्त्रका अभाव किसी कालमें नहीं होता, क्योंकि लक्ष्मीदेवी सर्वदा उनके श्रीचरण-कमलोंमें लोटती रहती हैं। भला उनके लिए दरिद्रता कैसे संभवपर हो सकती है? सुतराम् 'दरिद्र नारायण' एक अशास्त्रीय, सिद्धान्त-विरुद्ध और अयुक्तियुक्त बात है। वह आकाश-कुसुमकी तरह एक कोरी कल्पनाकी बात है।'

'क्या तुम कहना चाहते हो कि मनुष्यके भीतर भगवान् नहीं हैं? यदि प्रत्येक मनुष्यके भीतर भगवान् वास करते हैं, तब मनुष्यकी सेवा द्वारा क्या भगवान्की सेवा नहीं होती?'—नरेन्द्रने अपनी बातों पर जरा बल देते हुए कहा।

'भैयाजी, मनुष्यके भीतर भगवान् हैं, यह तो सत्य है; परन्तु मनुष्य भगवान् नहीं है। मनुष्यके शरीर और मनकी बात तो दूर रहे उसकी आत्मा भी भगवान् नहीं है। मनुष्यके शरीर और मन दोनों उसकी आत्माके आवरण हैं। ये दोनों जड़ हैं। जड़ वस्तुओंको सुख देनेसे भगवान्की सेवा नहीं होती। क्योंकि भगवान् पूर्ण चेतन हैं। अचेतन अर्थात् जड़की सेवासे भगवान्की सेवा नहीं होती। तुम केवल दरिद्र व्यक्तियोंको नारायण मानकर सेवा करते हो। परन्तु धनी व्यक्तियोंको भी नारायण मानकर धनी-नारायणकी सेवा क्यों नहीं करते? क्या उनमें भगवान् नहीं? क्या धनी व्यक्ति मनुष्य नहीं हैं? एक बात और—भगवान् केवल मनुष्य देहमें ही वास नहीं करते, वे तो कीट, पतङ्ग, पशु, पक्षी, मछली, मुर्गी, बकरी, गाय आदि प्रत्येक देहोंमें वास करते हैं। फिर इन जीव जन्तुओंकी हत्याकर, उनका मांस खाकर केवल दरिद्रको एक दिन खिचड़ी खिलाने से ही क्या नारायणकी सेवा हो जाती है? यार! दरिद्रनारायणकी सेवाके लिये तुम्हारे प्राण इतने आकुल हैं, किन्तु पाठानारायण, भेड़नारायण, मछलीनारायण, मुर्गीनारायण तथा गायनारायणके प्रति इतने निष्ठुर क्यों बन गये हो? उनकी हत्या करनेमें क्या तुम्हारे हाथ काँपते भी नहीं? यदि दरिद्रनारायण तुम्हारे इतने प्रिय हैं तो स्वयं अच्छे अच्छे अटारियोंमें उत्तम आसनोंपर बैठकर पूड़ी कचौड़ी, लड्डू, खीर, और मालपुआ आदि माल उड़ाते हो और अपने परमपूज्य दरिद्र नारायणजीको गन्दे रास्तों पर बैठा कर खिचड़ी आदि क्यों खिलाते हो? यह कहाँका विचार है? धन्य हो तुम और धन्य है तुम्हारी दरिद्रनारायणकी भक्ति। हाय! हाय!! कलिकाल है न, इसीलिये आजकल तुम्हारा ही विजय-डंका सब ओर बज रहा है। तुम लोग अस्पताल और स्कूल खोलकर सेवाकी बहादूरी लूटना चाहते हो, किन्तु मैं देखता हूँ—अगर अस्पताल और स्कूल खोलना ही श्रेष्ठ साधुता है, तो हमारी सरकार तो ऐसे-ऐसे कामोंको यथेष्ट परिणाममें कर रही है। भाई, ऐसी कपटता करनेका प्रयोजन क्या है? अपने-अपने पापोंके लिये जीव दरिद्र घरमें पैदा होकर कष्ट पाता है। दीन-दुखियोंकी सहायता हमें अवश्य करनी चाहिये। यह पुण्यजनक कर्म है। किन्तु उन्हें नारायण सजानेसे अनन्त अपराध होता है।'—देवेन्द्रने उत्तर दिया।

नरेन्द्रने प्रतिवाद किया। 'क्यों, तुमलोग भी तो सभी वस्तुओंमें भगवान्का दर्शन करते हो। अक्रूरने सर्वत्र भगवान्का दर्शन किया था। गीता और भागवतमें भी सर्वत्र भगवत् दर्शनका वर्णन है—

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥'

(श्रीमद्भा० ११।२।४५)

(क्रमशः)

—त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त त्रिविक्रम महाराज

श्रीभागवत-पत्रिका के नियम

(१) "श्रीभागवत-पत्रिका" प्रतिवर्ष द्वादश महीनों में द्वादश संख्याओं में प्रकाशित होगी। इनका नया वर्ष सौर ज्येष्ठ से आरम्भ होकर सौर वैशाख में समाप्त होता है। प्रति महीने की पूर्णिमा या अन्तिम दिवस के बीच ही प्रकाशित होगी।

(२) श्रीभागवत-पत्रिका की डाक-व्यय सहित वार्षिक भिक्षा ४), षाण्मासिक २॥) और प्रति संख्या ॥) है। भिक्षा अग्रिम जमा देना होगा। वी० पी० द्वारा मँगाने से डाक-व्यय अलग देना होगा।

(३) श्रीपत्रिका के प्रचलित वर्ष के किसी भी समय में प्रथम संख्या से ग्राहक बन सकते हैं। पुरानी संख्याओं के लिये प्रकाशक के साथ पृथक बन्दोबस्त करना चाहिये।

(४) ग्राहकों को अपना नाम-पता स्पष्ट लिखना चाहिये। सर्वदा ग्राहक-संख्या का उल्लेख होना आवश्यक है। पत्र के उत्तर के लिये जवाबी पोस्टकार्ड देना चाहिये। श्रीपत्रिका की कोई संख्या नहीं मिलने पर अगले महीने के १५ दिन के भीतर ही सूचित करना चाहिये।

(५) श्रीचैतन्य महाप्रभु की आचरित और प्रचारित शिक्षा या शुद्ध-भक्ति के सम्बन्ध में निरपेक्ष लेखादि भेजने से आदर-पूर्वक ग्रहण किये जाते हैं। ईर्ष्यामूल से आक्रमण सूचक लेखादि श्रीपत्रिका में प्रकाशित न होंगे। सत्-समालोचना सर्वदा आदरणीया है। लेखों को घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापने का अधिकार संपादक को है। अमनोनीत लेख लौटाये नहीं जाते। लेखों में प्रकाशित मत के लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं है।

(६) कोई जानकारी अथवा रुपये-पैसे भेजना हो तो—" 'कार्याध्यक्ष' अथवा 'प्रकाशक', श्रीभागवत-पत्रिका कार्यालय, कंसटीला, पो०-मथुरा (मथुरा) उ० प्र०" के नाम से भेजने चाहिये।

(७) विज्ञापनों की जानकारी के लिये कार्याध्यक्ष के निकट पृथक पत्र व्यवहार करना चाहिये।

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति के प्रतिष्ठापक तथा नियामक परमहंस स्वामी

ओ३म् विष्णुपाद १०८ श्री श्रीमद् भक्तिप्रज्ञानकेशव महाराज

कर्त्तृक प्रतिष्ठित शुद्ध--प्रचार केन्द्र--समूह

१—श्रीदेवानन्द गौड़ीय मठ—तेघरिपाड़ा, पो० नवद्वीप (नदिया) प० बंग। रक्षक-त्रिदण्डि-स्वामी श्रीमद् भक्तिवेदान्त त्रिविक्रम महाराज

२—श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ-कंसटीला, पो० मथुरा (मथुरा) उ० प्र०। रक्षक-त्रिदण्डि-स्वामी श्रीमद् भक्तिवेदान्त नारायण महाराज।

३—श्रीउद्धारण गौड़ीय मठ-चौमाथा, पो० चिनसुरा (हुगली) प० बंग। रक्षक-त्रिदण्डि-स्वामी श्रीमद् भक्तिवेदान्त परिव्राजक महाराज।

४—श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति-३३/२, बोसपाड़ा लेन (कलकत्ता-३)। रक्षक-त्रिदण्डि-स्वामी श्रीमद् भक्तिवेदान्त वामन महाराज।

५—श्रीसिद्धवाटी गौड़ीय मठ—सिधावाड़ी, पो०-रूपनारायणपुर (वर्दमान) प०-बंग रक्षक—श्रीत्रिगुणातीतदास बाबाजी महाराज।

६—श्रीपिछलदा पादपीठ—पिछलदा, पो०-ईश्वरपुर (मेदिनीपुर) प० बंग। रक्षक-श्रीगौरगोविन्ददास

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति द्वारा प्रकाशित न्यावली

1—SHRI CHAITANYA MAHA-PRABHU His Life and Precepts By Thakur BhaktiVinode Price Re1/-- only

२—सहजिया-दलन (हिन्दी)—श्रील-प्रभुपाद तथा श्रील-भक्ति विनोद ठाकुर के बंगला भाषा के लेखों का हिन्दी में अनुवाद, भिक्षा ।≈), ३—जैव-धर्म (बंगला) भिक्षा ५); ४—प्रेम-प्रदीप (बंगला) भिक्षा १।); ५—प्रबंधावली (बंगला) भिक्षा १॥); ६—शरणागति (बंगला) भिक्षा ।); ७—श्रीनवद्वीप भावतरंग (बंगला) भिक्षा ।); ८—श्रीगौड़ीय-पत्रिका (बंगला--मासिक), भिक्षा ४); ९—श्रीश्रीदामोदराष्टकम् (संस्कृत, बंगाक्षरों में) भिक्षा ॥);

श्रीलप्रभुपाद की उपदेशावली

१—विषय विग्रह श्रीकृष्ण ही एक मात्र भोक्ता हैं; तदतिरिक्त सभी उनके भोग्य हैं।

२—जो हरि भजन नहीं करते वे सभी निर्बोध और आत्मघाती हैं।

३—श्री हरिनाम-ग्रहण और भगवत् साक्षात्कार--दोनों एक ही बात हैं।

४—जो पंच-मिश्रित धर्मों का पालन करते हैं, वे भगवान् की सेवा नहीं कर सकते।

५—मुद्रण-यन्त्र के स्थापन, भक्ति-ग्रन्थों के प्रचार और नाम-हाट के प्रचार द्वारा ही श्री मायापुर (श्रीचैतन्य महाप्रभु का जन्म स्थान) की प्रकृत सेवा होगी।

६—हम सत्कर्मी, कुकर्मी अथवा ज्ञानी-अज्ञानी नहीं हैं; हम तो अकैतव हरिजनों के पाद-त्राण वाहक, "कीर्त्तनीयः सदा हरिः" मन्त्र में दीक्षित हैं।

७--केवल आचार-रहित प्रचार कर्म-अङ्ग के अन्तर्गत है। पर स्वभाव की निंदा न कर आत्म संशोधन करना चाहिये; यही मेरा उपदेश है।

८--माथुर-विरह-कातर ब्रजवासियों की सेवा करना ही हमारा परम धर्म है।

९—यदि हम श्रेय-पथ चाहते हैं, तो असंख्य जन-मत का परित्याग करके भी श्रौतवाणी का ही श्रवण करना चाहिये।

१०—पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, प्रभृति लक्ष-लक्ष योनियों में रहना अच्छा है, तथापि कपटता का आश्रय करना उचित नहीं, निष्कपट व्यक्ति का मङ्गल होता है।

११--सरलता का नामान्तर ही वैष्णवता है। परमहंस वैष्णवों के दास सरल होते हैं; इसलिये वे ही सर्वोत्कृष्ट ब्राह्मण हैं।

१२—जीवों की विपरीत रुचि को परिवर्त्तन करना ही सर्वश्रेष्ठ दयालुता का परिचय है। महामाया के दुर्ग के बीच से यदि एक जीव की भी रक्षा कर सको, तो अनन्त कोटि अस्पतालों के निर्माण की अपेक्षा उसमें अनंतगुन परोपकार का कार्य होगा।

१३—हम इस जगत में कोई काठ-पत्थर के कारीगर होने नहीं आये हैं; हम तो श्रीचैतन्य देव की वाणी के वाहक मात्र हैं।

१४—हम इस जगत् में अधिक दिन न रहेंगे, हरि-कीर्त्तन करते-करते हमारा देहपात होने से ही इस देह धारण की सार्थकता है।

१५—श्रीचैतन्य देव के मनोभिष्ट-संस्थापक श्रीरूप गोस्वामी के पाद-पद्म की धूलि ही हमारे जीवन की एक मात्र आकांक्षा की वस्तु है।

१६--हमारा "निरपेक्ष सत्य" भाषण अन्य मनुष्यों को अप्रीतिकर हो इस भय से यदि सत्य कथन का परित्याग करूँ तो मेरा श्रौत-पथ का परित्याग कर अश्रौत-पथ का ग्रहण करना हो गया, मैं 'अवैदिक'-'नास्तिक' हो गया। सत्य स्वरूप भगवान् में मेरा विश्वास नहीं रहा।